अपनों का वार

प्रथा सिंह बुंदेला

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Pratha Singh Bundela 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7310-393-8

Cover design: Rohit
Typesetting: Namrata Saini

First Edition: January 2026

आभार

यह पुस्तक हमारे लिए केवल एक रचना नहीं, बल्कि हमारे परिवार के प्रेम, संघर्ष और एकता का प्रतीक है। इस कठिन सफ़र में सबसे पहले मैं अपने माता-पिता, बड़ों और दादा-दादी का आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी शिक्षा, संस्कार और मार्गदर्शन ने हमेशा मुझे मज़बूत बनाया।

मैं अपने नगरवासियों, छोटे दादा-सा व उनके परिवार, तथा अपने भाई आर्यन बुंदेला का विशेष धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने हर परिस्थिति में साथ और विश्वास दिया।

अंत में, अपने इष्ट देवताओं की कृपा के बिना यह पुस्तक संभव नहीं थी। यह केवल मेरी नहीं, बल्कि हमारे पूरे परिवार की आवाज़ है, जिसने सदैव संघर्ष किया और गरिमा को बनाए रखा।

लेखक परिचय

मेरा नाम प्रथा सिंह बुंदेला है। । मैं **आदरणीया दादा- सा श्री जंडेल सिंह बुंदेला** और **आदरणीया दादी- सा श्रीमती कुंजकुमारी बुंदेला** की पौत्री हूँ। उनके संस्कारों और आशीर्वाद ने ही मुझे जीवन की सच्चाई को समझने और परिवार की गरिमा को संभालने की प्रेरणा दी।मैं **श्री जितेंद्र सिंह बुंदेला** और **श्रीमती कुमकुम बुंदेला** की पुत्री हूँ। हमारे माता-पिता हमारे लिए केवल संरक्षक ही नहीं बल्कि हमारे सबसे बड़े मार्गदर्शक और प्रेरणास्रोत हैं **मेरा जन्म चंदेरी, मध्य प्रदेश में हुआ और वर्तमान में मैं कक्षा 12वीं (मानविकी वर्ग) की छात्रा हूँ। मैं एक राजपूत परिवार से हूँ जहाँ सम्मान, संस्कृति और एकता को सबसे बड़ी धरोहर माना जाता है। यही मूल्य हमारे व्यक्तित्व की नींव बने हैं।**

यह पुस्तक हमारे लिए केवल एक रचना नहीं, बल्कि हमारे परिवार के संघर्ष और सत्य की गवाही है। मैंने इसे इसलिए लिखा क्योंकि मैं समाज को यह बताना चाहती हूँ कि कठिनाइयाँ केवल महिलाओं के हिस्से नहीं आतीं, पुरुष भी पीड़ा और अन्याय से गुज़रते हैं। लोग अक्सर सोचते हैं कि मुश्किल समय में परिवार बिखर जाता है, लेकिन मेरा परिवार इस सोच का उत्तर है। हमने हर परिस्थिति में एकजुट रहकर साहस और गरिमा के साथ संघर्ष किया।

मैंने अपने पाँच सदस्यीय परिवार की तकलीफ़ें और हिम्मत को नज़दीक से देखा है। इस अनुभव ने मुझे सिखाया कि सच्ची ताक़त परिवार की एकता और विश्वास में होती है।

लेखन हमारे लिए भावनाओं को व्यक्त करने का सबसे प्रिय माध्यम है। इस पुस्तक के अलावा मुझे कविताएँ और उद्धरण लिखने का भी शौक़ है।

यह पुस्तक हमारे परिवार को समर्पित है, और हमारे लिए गर्व का विषय है कि मैं उनकी आवाज़ दुनिया तक पहुँचा रही हूँ।

अंततः, मैं हाथ जोड़कर अपने देवि -देवताओं को नमन करती हूँ—**श्री जागेश्वरी माता**, **श्री अन्नपूर्णा माता बेहठी** और **चौखट्टा मंदिर हनुमान जी**। उनके आशीर्वाद और कृपा के बिना यह पुस्तक सम्भव ही नहीं थी।

“मैं सिर्फ इस कहानी की मूर्तिकार हूँ, इसकी मिट्टी उन पांच लोगों की है।”

धन्यवाद।

Family chart

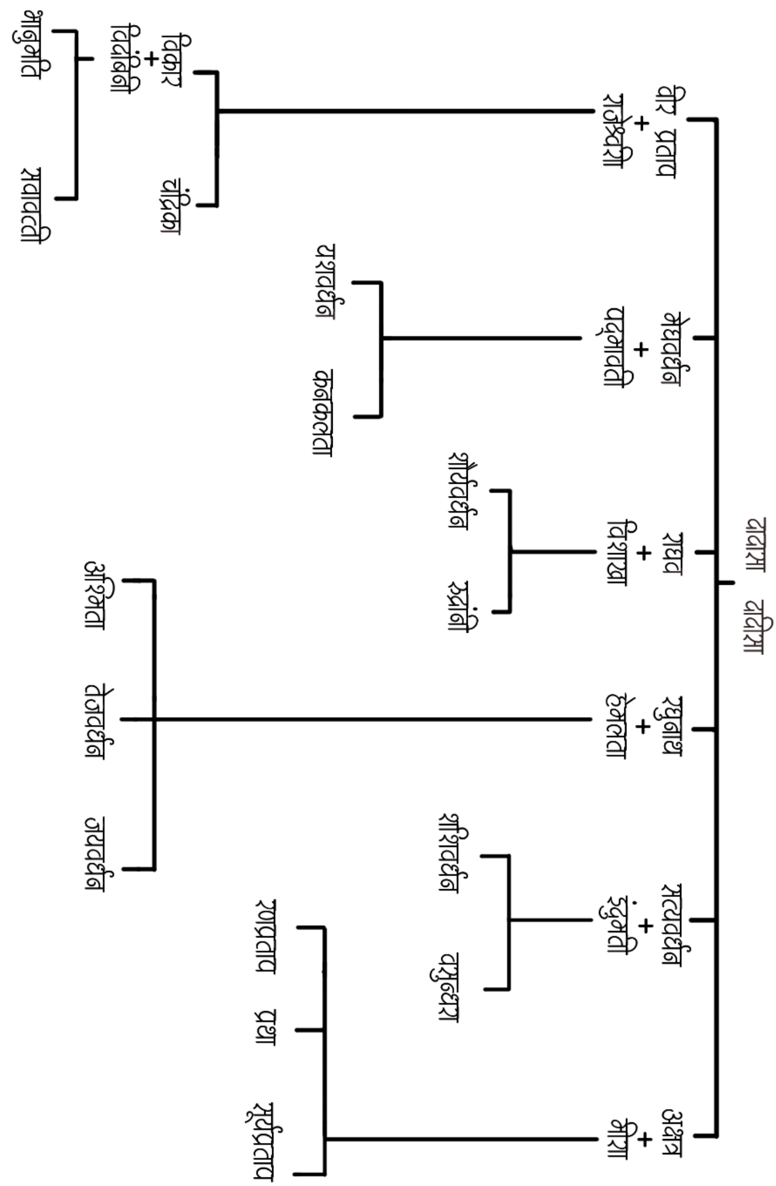

अनुक्रमणिका

अध्याय 1: तूफ़ान से पहले की शांति......1

अध्याय 2: संकट का प्रवेश......9

अध्याय 3: विश्वासघात और आरोप......18

अध्याय 4: न्याय के लिए संघर्ष......28

अध्याय 5: अँधेरों के बाद विजय......36

अंतिम अध्याय: संघर्ष से मिली सीख......44

अध्याय 1
तूफ़ान से पहले की शांति

चंदेरी — मध्य प्रदेश की गोद में बसी एक नगरी — केवल नक़्शे पर एक बिंदु नहीं थी; वह पत्थरों और रेशम में उत्कीर्ण एक कविता थी। इसकी क्षितिज रेखा, गुंबदों और मीनारों से सजी हुई, प्राचीन किलों को निहारती थी जो थके हुए प्रहरी-से खड़े थे, मानो वीरता और युद्धों की कहानियाँ फुसफुसा रहे हों। संकरी गलियाँ बलुआ पत्थर के घरों के बीच से होकर निकलती थीं, उनकी झरोखों से झाँकती आँखों-सी आकृतियाँ, और हवा में अक्सर करघों की लय घुली रहती थी — वे करघे जिनसे बुनी जाती थीं विश्वप्रसिद्ध चंदेरी साड़ियाँ — इतने बारीक धागे कि लगता था जैसे सुबह की धुंध से काते गए हों।

और इस नगर के हृदय में खड़ी थी गड़ी— केवल एक हवेली नहीं, बल्कि पत्थर और स्मृतियों में लिपटी एक जीवित आत्मा। "गड़ी वह पुश्तैनी बड़ा घर होता है, जो शक्ति और सम्मान का प्रतीक माना जाता है।"इसकी लाल बलुआ पत्थर की दीवारें गंभीर गरिमा से उठती थीं, जिनके भीतर पीढ़ियों की हँसी, प्रार्थनाएँ और फुसफुसाए गए रहस्य समाए हुए थे। तराशे हुए लकड़ी के दरवाज़ों से लेकर संध्याकालीन दीपों की रोशनी से नहाए आँगनों तक, हर कोना सांस लेता-सा लगता था — मानो स्वयं यह घर हम पर निगाह रखे हुए हो, हमारी खुशियों और दुखों की पहरेदारी करता हुआ, एक कालातीत प्रहरी की तरह।

हमारे परिवार की विरासत केवल रक्त संबंधों और संपत्ति का नाम नहीं थी — यह सम्मान, एकता और जड़ों की शक्ति पर बना एक किला थी। लेकिन सबसे गहरी जड़ें भी हिल सकती हैं। वीर प्रताप — हमारे बड़े काकासाहब — एक अचानक और निर्मम दुर्घटना में इस दुनिया को छोड़ गए, पीछे छोड़ गए अपने दो छोटे बच्चे — विकार और चंद्रिका — जो मुश्किल से दो या तीन वर्ष के रहे होंगे।

जब तक हमारे दादा-सा जीवित थे, उनका साया उस खोने के दुख को हल्का करता रहा। वे सब कुछ सहजता से संभाल लेते थे — एक ऐसे नेता, जिनकी आवाज़ में संयत अधिकार था और आँखों में आत्मीयता। उन बच्चों के लिए तो मानो उनके पिता आज भी हमारे बीच ही थे। दादासाहब ने चंद्रिका की शादी एक सम्मानित और सुसंस्कृत परिवार में करवाई। उन्होंने हर छोटे-बड़े रिश्ते, हर परख को स्वयं समझकर ही यह निर्णय लिया था, ताकि चंद्रिका अपनी नई जिंदगी में सम्मान, प्रेम और सुरक्षा पाए। इसके बाद दादा सा ने विकार की शादी की जिम्मेदारी भी पूरी करी। लेकिन कुछ वर्षों बाद, जब दादा-सा भी इस संसार से विदा हो गए, उनकी अनुपस्थिति गड़ी के हर कोने में महसूस की जाने लगी। मगर उनका नाम आज भी जीवित था — पत्थर पर खुदा नहीं, बल्कि उन दिलों और आवाज़ों में, जो आज भी उन्हें सम्मान से याद करते थे।

चंद्रिका और विकार

उनके जाने के बाद, घर की ज़िम्मेदारी पाँचों भाइयों पर आ गई — जिनमें हमारे पापा भी शामिल थे। गड़ी आसमान के सामने अब भी वैसे ही खड़ी थी जैसे पीढ़ियों की एक जीवित डायरी। उसकी पुरानी दीवारों में अब भी चंदन और अगरबत्ती की हल्की-सी गंध बसी रहती थी, उसके लकड़ी के दरवाज़े ऐसे चरमराते थे जैसे किसी पुराने ज़माने के रहस्य फुसफुसा रहे हों। पत्थर की फ़र्श को अनगिनत नंगे पाँवों ने चिकना कर दिया था — कभी बच्चों की दौड़-भाग से, तो कभी बुज़ुर्गों की चिंतन-भरी टहल से।

हमारी दादी-सा, मौन किंतु मज़बूत स्तंभ थीं — एक ऐसी अदृश्य डोर जो हम सबको बाँधे रखती थीं। वे कम बोलतीं, पर उनकी उपस्थिति गहरी थी। व्यवसाय के लिहाज़ से परिवार सुरक्षित था — कोई खेती में, कोई राजनीति में, कुछ खदान में, और कुछ ठेकेदारी में। गड़ी का जीवन व्यस्त भी था और निश्चिंत भी।

भोजन केवल भोजन नहीं था; वह एक अनुष्ठान था। तवे पर फुलकते गरम रोटियों की सुगंध, मिट्टी के मर्तबानों में रखे अचार की तीखी महक, और ठंडे पानी से भरे स्टील के गिलासों की खनक — यह सब मिलकर आँगन में गूँजते ठहाकों और पीतल की थालियों पर बजते चमचों की आवाज़ के साथ घुल जाता था।

नौकर-चाकर चुपचाप किंतु कुशलता से काम करते — कोई मेहमानों के लिए बरामदे में नाश्ता सजाता, तो कोई तुलसी के पौधे के नीचे गिरे पत्ते और फूल बुहारता।

इस सबके बीच केंद्र में था हमारा पूजा-कक्ष, जहाँ दीपकों की रोशनी मद्धिम-सी चमकती रहती थी। त्यौहार इस घर की धड़कन थे — अगरबत्ती की लहराती ख़ुशबू, दीवारों पर कांपते दीपों का उजाला, और भजनों की लय में बजती ताली की गूंज। नगरवासी केवल अनुष्ठानों को ही नहीं, बल्कि हमारे घर की एकता को देखकर भी चकित हो जाते — बाँटे हुए मुस्कानें, जुड़े हुए हाथ, और उस अदृश्य गर्व को देखकर जो एक परिवार होने में निहित था।

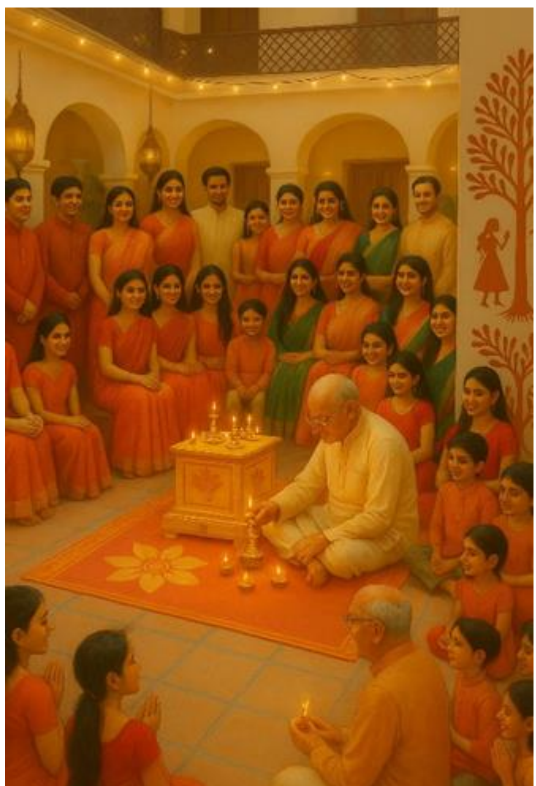

हम बारहों भाई-बहन गड़ी की शोरगुल करती नब्ज़ थे। विकारऔर चंद्रिका बड़े होने के कारण हमारे खेलों में कम ही शामिल होते, और चंद्रिका तो ब्याह कर दूर अपने ससुराल जा चुकी थी — उसके आने-जाने के पल तो मानो किसी ख़ज़ाने की तरह दुर्लभ हो गए थे। फिर भी हम रात देर तक खेलते रहते, हमारी हँसी ऊँची छतों से टकराकर गूँजती रहती। कभी-कभी हमारा कार्ड का खेल इतना गरमा जाता कि “कार्ड!” की चीख़ें रसोई तक पहुँच जातीं, जिसके बाद नकली विरोध और हारने की अतिरंजित कराहें गूँज उठतीं।

बरामदे की रात की हवा हमारी त्वचा पर ठंडी लगती, नीचे की संगमरमर की फ़र्श बर्फ-सी ठंडी, और हमारी रहस्यमयी बातें हमें ऐसे लगतीं जैसे कोई अनमोल ख़ज़ाना, जिसे कोई बाहरी कभी छू भी न पाए।

गड़ी में सिर्फ़ हम बारहों ही नहीं, पाँचों भाई भी हमारे संग बच्चे बन जाया करते थे। ठंडी शामों में, जब दिनभर का काम ख़त्म हो जाता, वे भी आँगन में आ निकलते, आस्तीनें चढ़ाए योद्धाओं-से खेलने को तैयार। कोई जान-बूझकर कार्ड में चीटिंग करता सिर्फ़ हमारे नखरे देखने के लिए, कोई किसी बच्चे को गोद में भरकर इतनी देर घुमाता कि उसकी हँसी और लाइट्स एक धुंधली-सी लहर बन जाते। उनकी ठहाकेदार हँसी आँगन के अशोक पत्तों की सरसराहट में मिल जाती, और उनकी कुर्तों की आस्तीनों से कभी खेतों की मिट्टी की सुगंध आती, तो कभी नहाने के बाद लगाए गए चंदन का इत्र। वे गर्मजोशी और मस्ती से भरे थे, पर ज़रूरत पड़ने पर उनकी एक नज़र ही अनुशासन कायम कर देती।

घर की पाँचों औरतें — सभी काकी साहब और हमारी माँ— भी किसी रंगीन रानी से कम न थीं। वे घर को ऐसे चलातीं जैसे कोई रानी अपना महल चलाती है — रसोई का हर कोना उनके लिए किसी ख़ज़ाने से कम न था। और जैसे किसी भी बड़े घर में मज़बूत औरतें हों, उनके बीच छोटी-छोटी लड़ाइयाँ भी होती रहतीं — जिन्हें हम बच्चे बड़े चाव से देखते। "मेरी पीतल की थाली क्यों ले ली?" — "मेरा मसाला डिब्बा लौटा दो, वरना कचौड़ियाँ कैसे बनेंगी?" — इस तरह की आवाज़ें रसोई से गरमा-गरम पकौड़ों की ख़ुशबू के साथ बाहर आतीं। हम दरवाज़े के पीछे छुपकर खिलखिलाते, यह जानते हुए कि एक घंटे बाद वही सब चाय पीते हुए फिर हँसेंगी। गड़ी की सबसे बड़ी लड़ाइयाँ ज़मीन या राजनीति को लेकर नहीं थीं, बल्कि इस पर थीं कि किसका अचार सबसे अच्छा है, या किसकी रोटियाँ सबसे अच्छी फूलती हैं। और शायद यही उसकी ख़ूबसूरती थी — उनकी बहसबाज़ियाँ भी घर की गर्माहट और लय का हिस्सा बन जाती थीं।

जब दादी-सा की दो बेटियाँ अपने मायके आतीं, गड़ी मानो समय का पहिया बन जाती। वे अपने घरों की महक और पुरानी यादें साथ लातीं, भाइयों संग बैठकर बचपन की कहानियाँ सुनातीं — आम के पेड़ों पर चढ़ने की, रसोई से मिठाई चुराने की, और उन त्योहारों की, जब वे खुद बच्चे थे। उनकी हँसी की आवाज़ ताज़ी चाय की भाप में मिलती, और उन पलों में, भूत और वर्तमान एक साथ बैठते दिखते।

लेकिन समय, जैसे धीमी लहरें किनारे बदल देती हैं, वैसा ही बदलने लगा। यह बदलाव शोर मचाकर नहीं आया। वह धीरे-धीरे आया — एक स्वर जो पहले से ठंडा था, खाने की मेज़ पर एक खाली कुर्सी, आँखें जो आपसे मिलने से कतराती थीं। और फिर... वह आई।

अध्याय 2
संकट का प्रवेश

"विढंबिनी का प्रवेश - जिसे हम सब बच्चे भाभीसाहब कहते थे- जिस दिन विढंबिनी ने गड़ी में कदम रखा, मानो हवा खुद थम गई—जैसे सदियों पुरानी दीवारें अपनी साँस रोककर खड़ी हों। वह परंपरा की गरिमा में लिपटी आई थी, उसकी साड़ी की हर प्लीट सधे हुए ढंग से जमी थी, रेशमी आँचल बलुआ पत्थर की ज़मीन से रगड़ खाता, धीमे स्वर में फुसफुसा रहा था। सुनहरी किनारी डूबते सूरज की रोशनी पकड़कर आँगन की सफ़ेद दीवारों पर चमक बिखेर रही थी।ऊपर से वह वही थी जो एक नई दुल्हन को होना चाहिए।मगर उसकी आँखों के पीछे कुछ और ही था—एक स्थिरता, जो शांति की नहीं बल्कि गणना की थी। जैसे बरसात के बाद का कोई तालाब—ऊपर से शांत, मगर भीतर अदृश्य हलचलें।

वह एक छोटे परिवार, छोटे गाँव से आई थी, गड़ी की भव्यता, अनुशासन और अनकहे नियमों से दूर। हमने सोचा था कि नई दुल्हन की कोमल आभा दिखेगी—मांग में सिंदूर की लाली, काँच की चूड़ियों की खनक, हथेलियों पर ताज़ा मेहँदी की हल्की रंगत। मगर विढंबिनी ने इनमें से कुछ नहीं अपनाया। न सिंदूर, न चूड़ियाँ, न वह संकोचपूर्ण श्रृंगार जो नये जीवन का प्रतीक होता है। जब बुजुर्ग औरतें स्नेह से कहतीं—"थोड़ा-सा सजना-संवरना भी तो शादी का हिस्सा है, विढंबिनी... तो उसके जवाब कभी गरमाहट भरे होते। कभी वह अनसुना कर देती, और कभी उसकी आँखों में कठोरता आ जाती, स्वर में चुभन—मानो यह सुझाव अपमान हो।

शादी के बाद भी उसने खुद को परिवार के आयोजनों में नहीं जोड़ा। त्यौहार, पूजाएँ, शादियाँ—जो गड़ी को एक डोर में बाँधते थे—उसकी अनुपस्थिति से अधूरे लगने लगे। शुरू में सबने सोचा, यह झिझक या समय का मामला है। मगर महीने वर्षों में बदले और उसकी दूरी एक आदत बन गई। वह अलग-थलग रहती, मानो वह परिवार की नहीं, सिर्फ़ अपनी ही दुनिया की सदस्य हो।

धीरे-धीरे, जैसे बिना आहट, विकार भी बदलने लगे। जो कभी हँसमुख और सबसे क़रीबी थे, वह खामोश रहने लगे, कम बोलते और मेल-मिलाप से कतराते। जब परिवार साथ

बैठता, तो अक्सर वह कोई बहाना बना लेते। मानो विढंबिनी की छाया उन पर छा गई हो, उन्हें गड़ी की गरमी और अपनापन से दूर खींचती हुई।

विढंबिनी की सासू माँ-राजेश्वरी केवल इस घर की सबसे पहली बहू ही नहीं थीं, बल्कि पूरे आँगन की नींव जैसी थीं। सबसे पहले दुल्हन बनकर गाड़ी में प्रवेश करने वाली, उन्होंने इन दीवारों के बीच सबसे लंबा समय बिताया था और अपना जीवन घर के हर कोने में बुन दिया था। पापा और सभी काकासाहबों के लिए वे माँ से कम नहीं थीं—हमेशा मौजूद, हमेशा सहारा देने वाली और हमेशा परिवार को एक धागे में पिरोए रखने वाली। उनकी उपस्थिति में एक ऐसी गरिमा थी, जिसे जताने की कभी ज़रूरत नहीं पड़ी, क्योंकि वह सबके दिल से उन्हें मिलती थी।

राजेश्वरी ने कभी खुद को कामों से दूर नहीं रखा। चाहे रसोई के रोज़मर्रा के काम हों, बड़े पारिवारिक आयोजनों की तैयारियाँ हों या फिर एक संयुक्त परिवार की अनगिनत जिम्मेदारियाँ—हर जगह वे सबसे आगे खड़ी रहतीं।

हम बच्चों के लिए भी वे एक ममता और अनुशासन का संगम थीं। उनके साथ हमने अनगिनत पल बिताए—कभी उनकी डाँट में सीख मिली, तो कभी उनके आँचल में ढेर सारा स्नेह। उनके शब्दों में एक माँ की तरह फटकार भी थी और अपनापन भी।

पर हर कोई उनकी इस जगह को सहजता से स्वीकार नहीं करता था। विढंबिनी, जो बाद में इस घर में आईं, अक्सर राजेश्वरी के प्रति एक कड़वाहट भरा व्यवहार रखती थीं। सीधी टकराव की नौबत तो नहीं आती थी, लेकिन ठंडापन उनके लहजे और तौर-तरीकों में साफ़ झलकता था। उनकी मौजूदगी, अपनापन बढ़ाने के बजाय, घर के वातावरण को बोझिल बना देती थी।

जब भी घर के बड़े सदस्य मासूम निष्ठा में, राजेश्वरी के पक्ष में कुछ कहने की कोशिश करते, तो विढंबिनी तुरंत हम पर चिल्ला पड़तीं। उनका गुस्सा तेज़ और चुभने वाला होता, मानो हमारे शब्द उनकी प्रतिष्ठा को चोट पहुँचा रहे हों। ऐसे क्षणों में हम खामोश हो जाते, अपराधबोध से नहीं, बल्कि इसलिए क्योंकि हम समझ चुके थे—विढंबिनी की नाराज़गी दरअसल हम पर नहीं, बल्कि उस सम्मान और प्रेम पर थी, जो उनकी सास को सहज ही मिल जाता था।

और शायद, यही बात उन्हें सबसे अधिक खटकती थी।

धीरे-धीरे, जैसे बिना आहट, विकार भी बदलने लगे। जो कभी हँसमुख और सबसे क़रीबी थे, वह खामोश रहने लगे, कम बोलते और मेल-मिलाप से कतराते। जब परिवार साथ बैठता, तो अक्सर वह कोई बहाना बना लेते। मानो विढंबिनी की छाया उन पर छा गई हो, उन्हें गड़ी की गरमी और अपनापन से दूर खींचती हुई।

चंद्रिका कोई ऐसी स्त्री नहीं थी जिसे चुप कराया जा सके, न ही वह कभी अपनी भाभी-सा या दादा-सा से कम तेज़तर्रार रही। उसके शब्द जब भी निकलते, तो मानो उनमें लाल मिर्च का तीखापन भरा हो—चुभने वाले, जलन पैदा करने वाले और अनदेखा करना असंभव। जब भी वह बोलती, ऐसा लगता जैसे हवा में मसाले बिखेर रही हो, जिससे वातावरण भारी हो जाता।

बार-बार वह हमारे काकासाहिबों के सामने खड़ी हो जाती, उसकी आवाज़ लोहे पर लोहे की टंकार जैसी गूंजती। "जायदाद बाँट दो," वह मांग करती, आँखों में अधीरता की चमक लिए। "आधा हिस्सा मुझे और हमारे भाई विकार को दो, बाकी आधा तुम पाँच भाई आपस में बाँट लेना।"

पर काकासाहिब, पीढ़ियों का बोझ अपने कंधों पर लिए गंभीरता और धैर्य से जवाब देते। "चंद्रिका," वह दृढ़ स्वर में कहते, "जब तक हमारी माँ ज़िंदा हैं, जायदाद का बँटवारा नहीं हो सकता। सब कुछ उनके ही हाथों में रहेगा। हमें और कुछ नहीं चाहिए। जब समय आएगा, तब तुम्हें तुम्हारा हिस्सा मिलेगा—पर अभी नहीं।"

उनके ये स्थिर और अंतिम शब्द, चंद्रिका के लिए मानो पत्थर की दीवार बन जाते, जिसे वह चाहे जितना भी टकराए, तोड़ नहीं सकती। लेकिन झुकने के बजाय उसकी क्रोधाग्नि और भड़क उठती। तूफानी चेहरा और काँपते हाथों के साथ, वह अपने कमरे में लौट जाती, उसके गुस्से भरे कदम हवेली के पत्थरों पर गूंज उठते।

कमरे की दीवारों के भीतर उसका क्रोध बड़बड़ाहट में बदल जाता, उन ही पुरुषों के लिए फुसफुसाई गई बद्दुआओं में, जिन्होंने कभी उसे अपनी बाँहों में उठाया था, दुलारा था और स्नेह दिया था। फिर भी, उनके सामने वह ऐसे खड़ी होती मानो अध्यापक हो और सामने शरारती शिष्य—यह भूलकर कि जिन्हें वह डाँटना चाहती थी, वही हाथ उसे बचपन में रोटी खिलाने वाले और वही कंधे उसके रक्षक थे।

और फिर, जब भी चंद्रिका अपने ससुराल से चंदेरी आती, तो हवेली में मानो नया तूफ़ान आ जाता—हर बार कोई न कोई नया झगड़े का मुद्दा लेकर वह सामने खड़ी हो जाती।

परिवार के ताने-बाने में खुद को बुनने की बजाय, विढंबिनी उसे उधेड़ने लगी। उसके शब्द, जो शुरू में हल्के-फुल्के थे, जल्द ही तानों में बदल गए। वह अपने पति का खुलेआम मज़ाक उड़ाती, अक्सर उसके रूप-रंग पर। कई बार वह मुस्कराकर कह देती— "लल्लू जैसा दिखता है।" उसकी आवाज़ में हँसी नहीं होती, बस ठंडी अवमानना। उसकी मौजूदगी में बातचीत बोझिल हो जाती। लोग नज़रें फेर लेते, लेकिन उसके कहे शब्द मन में नन्हें काँटों-से अटक जाते।

पहली बड़ी दरार तब आई जब उसके मायके में शादी की तैयारियाँ थीं। उसने शिकायत की कि उसके पास पहनने के लिए गहने नहीं हैं। गड़ी की औरतों ने स्नेह से अपने बक्से खोल दिए—"अरे ले जाओ, अपना ही तो घर है। लौटते ही दे देना।" उसने मुस्कुराकर ले लिया। मगर लौटने पर उसका जवाब ठंडा था—गहने ट्रेन में चोरी हो गए। न कोई एफआईआर, न पुलिस में शिकायत, न ढूँढने की कोशिश। जो ख़ामोशी छाई, वह भारी थी। शक की परछाइयाँ आँगन की दीवारों पर टिमटिमाने लगीं—अनकही, मगर अनदेखी नहीं। कुछ नाजुक टूट चुका था।

जल्द ही उसने पुराने नौकरों पर इलज़ाम लगाया कि वे उसे ग़लत निगाह से देखते हैं—वो नौकर जो दसियों साल से परिवार की सेवा कर रहे थे, जिनकी वफ़ादारी उतनी ही स्थायी थी जितनी पूजा-घर की पीतल की दीपक। ये आरोप चुभ गए। मगर कलंक से बचने के लिए बड़ों ने प्रतिवाद दबा लिया। शांति बनी रही, मगर वह ऐसी शांति थी जैसे कच्चे घड़े की—बस एक बूँद से चटक सकती थी।

फिर आया एक घर का किस्सा।

वह घर, जो चंदेरी से करीब चालीस किलोमीटर दूर ललितपुर में है। आज से लगभग चालीस साल पहले की बात है। उस समय विकारके पापा भी छोटे ही थे, और विकार खुद तो बस एक-दो साल के बालक थे। उसी दौर में पर- दादा-सा ने यह घर खरीदा था।विकार उनका पहला परपौता था शायद यही वजह थी कि घर खरीदने के बाद उन्होंने वह घर सीधे विकारके नाम कर दिया।

पर किसे मालूम था कि समय का चक्र इतना अजीब मोड़ लेगा। वही घर, जिसे प्रेम और भविष्य की नींव मानकर खरीदा गया था, सालों बाद विवाद और कलह की जड़ बन जाएगा। किसे खबर थी कि एक दिन एक औरत उसी घर पर अपना अधिकार जताकर लड़ाई खड़ी करेगी।

यह सोचकर भी अजीब लगता है कि जिस घर की नींव में अपनापन, विश्वास और आशीर्वाद था, वह कभी दरारों और कटुता का गवाह बनेगा।

और यहां एक और खास बात है—हमारे परदादा-सा पूरे 107 साल तक जिए। इतने लंबे जीवन में उन्होंने न जाने कितने उतार-चढ़ाव देखे होंगे, कितनी पीढ़ियों को बढ़ते और बदलते हुए देखा होगा। लेकिन शायद यह देखना उनकी किस्मत में नहीं था कि उनके जाने के बाद उनके लगाए पेड़ की जड़ें कभी विवादों की आंधियों से हिलेंगी।

जब विढंबिनी को पता चला, तो उसने साफ़ कह दिया—"यह मकान मेरा है। मुझे यह घर चाहिए!" बड़ों ने समझाया— पर-दादा-सा ने यह विकारके नाम किया था क्योंकि वह पहला पर- पोता है।" मगर वह अड़ी रही। घर में झगड़े गूँज उठे, उन दीवारों में जो पहले

सिर्फ़ गीतों से गूँजती थीं। आख़िर झगड़ा ख़त्म करने के लिए बड़ों ने उसे धन और पुश्तैनी ज़मीन का हिस्सा दिया। उसने इन्हें धन्यवाद की जगह लूट के माल जैसी संतुष्टि से लिया।

उसकी भूख यहीं नहीं थमी। यहाँ तक कि उसकी बड़ी बेटी—भोली-भाली और मासूम—कभी-कभी उसकी ज़ुबान बन जाती। एक बार उसने मुझसे कहा—"काश हमारे पापा के पास उतने पैसे होते जितने तुम्हारे पापा और काकाओं के पास हैं।" मैंने मुस्कुराकर कहा—, किस्मत सबको उसका हिस्सा देती है।" मगर हमारी कानूनी मुसीबतों से लगभग एक साल पहले उसने और भी अजीब बात कही—"एक साल बाद हम मामा के पास रहेंगे। हमारा कमरा वहाँ पहले से तैयार है। मामा ने कहा है कि हमें तुम्हारे घर का सब कुछ मिलेगा।" वह सिर्फ़ नौ साल की थी। मैंने इसे बच्चों की नादानी समझकर टाल दिया। मगर अब जानती हूँ—ये बीज बहुत पहले बोए जा चुके थे, बस मौसम का इंतज़ार था।

रक्षाबंधन से एक दिन पहले घर में घी में बने लड्डुओं की सुगंध और धूपबत्ती की लहराती खुशबू फैली थी।

आँगन उस दोपहर हँसी–खुशी से गूंज रहा था। रंग-बिरंगी कागज़ की लड़ियाँ हवा में झूल रही थीं, दरवाज़े पर गेंदा के फूलों की मालाएँ सजी थीं, और खीर व लड्डुओं की मिठास भरी खुशबू पूरे घर में फैल रही थी। बच्चे इधर–उधर दौड़ रहे थे, कुछ लड़कियों के हाथों पर अभी भी गाढ़ी महँदी की रंगत चमक रही थी, उनके लाल-पीले लहंगे और चूड़ियाँ छनक रही थीं। लड़के अपने-अपने कुर्ते संभालते, रेशमी धागों से सजे राखियों को दिखा–दिखाकर एक-दूसरे को चिढ़ा रहे थे।

रक्षा बंधन का उल्लास हर ओर था। हँसी की आवाज़ें, मिठाइयाँ बाँटने की होड़ और कैमरे की क्लिक की आवाज़ पूरे घर में गूँज रही थी।

पर उसी शोर-शराबे से दूर, एक कोने में खड़ी थी भानुमती- विढंबिनी की बेटी- हमारी भतीजी । वह केवल नौ साल की थी। गुलाबी फ्रॉक हल्की-सी मुचड़ी हुई थी, और उसकी पतली चोटी लाल रिबन से बँधी थी। उसके नन्हें हाथ में एक राखी थी—धागा ढीला-सा झूल रहा था और मोतियों पर धूप चमक रही थी। उसकी आँखों से चुपचाप आँसू बह रहे थे।

हमारे भाई ने उसे देखा। वह भीड़ से निकलकर धीरे-धीरे उसके पास गया और झुककर उसकी आँखों में देखा।

"भानुमती," उसने कोमल स्वर में पूछा, "तुम रो क्यों रही हो? आज तो खुशी का दिन है।"

भानुमती ने सिसकते हुए अपनी आँखें पोंछीं। "क्योंकि... हमारे पास कोई भाई नहीं है, जिसे मैं राखी बाँध सकूँ।" उसकी मासूम आवाज़ काँप गई और उसकी आँखों में तड़प झलक उठी।

हमारे भाई ने पल भर कुछ नहीं कहा। फिर अचानक उसके चेहरे पर उजली मुस्कान फैल गई। उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया और हँसकर बोला, "ये क्या कह रही हो? तुम्हारे भाई तो यहीं हैं! हमें राखी बाँधो।"

बाक़ी लड़के भी दौड़ते हुए आ गए और अपने हाथ आगे कर दिए। "हाँ, हाँ! हम सब तुम्हारे भाई हैं, भानुमती। अब और मत रो।"

उसके आँसू एक शर्मीली मुस्कान में बदल गए। उसने पहले हमारे भाई की कलाई पर राखी बाँधी, उसकी नन्हीं उँगलियाँ गाँठ में उलझीं, फिर धीरे–धीरे बाक़ी सबको बाँध दी। हर राखी के साथ उसका चेहरा और भी उजला होता गया।

कैमरे की क्लिक ने उस पल को सदा के लिए थाम लिया—उसकी हँसी, लाल रिबन से बंधी चोटियाँ और चमकती आँखें। आँगन तालियों और हर्षोल्लास से गूँज उठा। किसी ने मिठाई उसके हाथ में दे दी, तो किसी ने मज़ाक किया, "अब तो भानुमती को ढेर सारे तोहफ़े चाहिए!"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। अभी तक जो उदासी उसकी आँखों में थी, वह जैसे मिट गई। अपने नए भाइयों से घिरी भानुमती अब अकेली नहीं थी।

उस रक्षाबंधन की रात, जब दिनभर की हँसी-ठिठोली शाम की खामोश गुनगुनाहट में बदल चुकी थी, हम सब भाई-बहन आँगन में बैठे खेल रहे थे, एक-दूसरे को छेड़ रहे थे। हवा अब भी लड्डुओं की मिठास और धूप की हल्की महक समेटे थी। तभी विढंबिनी अचानक आई—उसकी आवाज़ असामान्य रूप से धीमी, मानो पहले से रटी हुई। उसने कहा, "मैंने आज ज़्यादा दाल बनाई है। नौकर छुट्टी पर थे, तो मैंने खुद पकाई। तुम सबको खानी होगी।"

हमने हैरानी से एक-दूसरे की ओर देखा। इतने शुभ दिन की रात को दाल? हमारी थालियाँ तो पहले से खीर, पूरी और त्यौहार के विशेष व्यंजनों से भरी हुई थीं। किसी ने उस दाल को हाथ नहीं लगाया। हमारे लिए वह बस रसोई के कोने में रखा एक बर्तन था, जो अनदेखा रह गया।

मगर अगले ही दिन, उसकी आवाज़ गड़ी में गड़गड़ाहट की तरह गूँज उठी। वह घंटों चिल्लाती-झिड़कती रही, इस बात पर आग-बबूला कि दाल क्यों नहीं खाई गई। "मैंने बच्चों के लिए बनाई थी! उन्होंने क्यों नहीं खाई?"—उसकी चीखें हवेली के लंबे गलियारों

तक गूँजती रहीं। उस समय हमें लगा, यह भी उसका एक और ग़ुस्सैल प्रसंग है। पर अब, जब हम उस रात को याद करते हैं, दिल में एक ठंडा सवाल उतर आता है—वह सिर्फ़ हमारे पास क्यों आई? हमारी माताओं को क्यों नहीं बुलाया? उस एक बर्तन की दाल पर इतना ज़ोर क्यों था? क्या वह सचमुच भोजन था—या कुछ और, कुछ कहीं अधिक अंधकारमय?

किस्मत से, ईश्वर की असीम कृपा से, हमने उस बर्तन से कुछ नहीं खाया। अब पीछे मुड़कर देखते हैं, तो वह संयोग नहीं लगता, बल्कि नियति की मौन रक्षा—एक ऐसा संकीर्ण बचाव, जिसकी गहराई हमें वर्षों बाद समझ आई।

गड़ी—जो कभी चाय की प्यालियों की खनक, ठहाकों की गूँज और गुलाब-धुएँ की मिली-जुली खुशबू से जीवंत रहती थी—बदलने लगी थी। दरवाज़े, जो हमेशा खुले रहते, अब धीरे से बंद होने लगे। खाने की मेज़ पर बातें सिमटकर फुसफुसाहट में बदल गईं। यहाँ तक कि दादी-सा की शांत आँखें, जो मंदिर के दीपक-सी अडिग रहती थीं, अब अनकहे भय से काँपने लगीं।

रक्षा बंधन के बाद के दिन मिट्टी और भक्ति की एक हल्की सुगंध से भरे हुए थे। हमारे नगर में भुजरिया केवल एक साधारण रीति-रिवाज नहीं था—यह धरती और इंसान, परिवार और प्रकृति के बीच जीवित बंधन था। स्त्रियों ने कई दिन पहले ही जौ और गेहूँ के बीज बो दिए थे—उनकी कोमल उँगलियाँ हर दाने को मिट्टी में दबातीं और समृद्धि व सौहार्द की धीमी प्रार्थना करतीं। अब नन्हीं-नन्हीं हरी कोपलें फूट चुकी थीं—कोमल, नाजुक और आशा से भरी हुई।

उस संध्या, आँगन हँसी से गूंज रहा था, उनकी हथेलियाँ नन्हीं भुजरिया की हरियाली से भरी हुई थीं। वे एक घर से दूसरे घर जा रही थीं, जैसे हरी कोपलें नहीं, अपने दिल के टुकड़े बाँट रही हों। हर हाथ जो इन्हें ग्रहण करता, वह केवल पौधे नहीं, बल्कि शुभकामनाएँ, आशीर्वाद और एकता का वचन भी ग्रहण करता।

इसी ऊष्मा के बीच हवेली के एक कोने में सन्नाटा पसरा हुआ था।

विढंबिनी का कमरा।

उनकी अनुपस्थिति किसी से छुपी नहीं रही। जब स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं तो किसी ने फुसफुसाकर कहा, "विढंबिनी अभी तक बाहर क्यों नहीं आईं? उन्होंने तो अपनी भुजरिया भी नहीं ली।"

रुद्राग्नि और वसुंधरा, रीति को टूटने नहीं देना चाहती थीं, सो उन्होंने स्वयं उसके पास जाने का निश्चय किया। सँभलकर वे उस शांत गलियारे से गुज़रीं उनके हाथों में हरियाली की बंधी-बंधाई गाठें थीं—जैसे वे केवल पौधे नहीं, बल्कि अपनत्व का निमंत्रण लिए हुए हों।

वे विढंबिनी के दरवाज़े पर रुकीं। एक पल को हिचकिचाईं—उस कमरे के आसपास हमेशा कोई न कोई बोझिलता रहती थी, जैसे दीवारें भी दबाव में हों। फिर भी रुद्राग्नि ने धीरे से दस्तक दी, उनकी आवाज़ में आत्मीयता थी, “भाभी-सा, आपके लिए भुजरिया लाई हैं।”

पहले तो कोई उत्तर नहीं आया। बस भीतर छुपी हुई चुप्पी थी—जैसे कोई पर्दे के पीछे प्रतीक्षा कर रहा हो। वसुंधरा ने इस बार ज़रा ज़ोर से दस्तक दी।

अचानक, कुंडी तीखी आवाज़ के साथ खुली। दरवाज़ा तेजी से खुला।

विढंबिनी सामने खड़ी थीं—उनका चेहरा कठोर, आँखों में खीज की लपटें, जैसे दस्तक ने ही किसी पवित्रता को भंग कर दिया हो।

“अब क्या हुआ?” उनकी आवाज़ इतनी तेज़ थी कि गलियारे का सन्नाटा चीर गई।

रुद्राग्नि थोड़ी सहमीं, पर संभलकर आगे बढ़ीं, हथेली आगे करते हुए बोलीं, “भाभी-सा, भुजरिया... आपके लिए लाईं हैं।”

वसुंधरा ने भी धीरे से जोड़ा, “यह आशीर्वाद के लिए है, शुभकामना के लिए। कृपया स्वीकार कीजिए।”

लेकिन विढंबिनी की आँखें और भी कठोर हो उठीं। उन्होंने उन नन्हीं हरियाली की ओर ऐसे देखा, मानो वे काँटे हों। हाथ के एक ठंडे, उपेक्षापूर्ण इशारे से बोलीं, “मुझे नहीं चाहिए। इन्हें ले जाओ।”

किसी के कुछ कहने से पहले ही दरवाज़ा धड़ाम से बंद हो गया। वह आवाज़ गलियारे में गूँज उठी—तेज़ और अंतिम, जैसे ईंट दर ईंट कोई दीवार खड़ी कर दी गई हो।

रुद्राग्नि और वसुंधरा वहीं ठिठक गईं, उनकी हथेलियों में अब भी भुजरिया थी। नन्हीं हरी कोपलें जैसे हल्के से काँप उठीं हों—जैसे उन्होंने भी अस्वीकृति को महसूस कर लिया हो। दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा—चेहरों पर गहरी पीड़ा थी। वह पर्व, जो सबको जोड़ने के लिए था, उसी क्षण घर के भीतर एक दरार दिखा गया।

जब वे आँगन की ओर लौटीं तो बाहर की हँसी और गीत अचानक दूर लगने लगे। उनके हृदयों में एक परछाईं उतर आई थी, जो चुभन छोड़ गई। उस शाम पहली बार, एकता के अंकुर नाजुक प्रतीत हुए।

हमने वर्षों तक अपना सब कुछ दिया—विकारऔर चंद्रिका की शादियाँ कराईं, विकारको पत्थर की खदान की लीज़ दिलाई, अपने हर साधन को बाँटा—मगर उनके मुस्कानों में भी एक धार छिपी थी। शिष्टता के पीछे यह विश्वास पलता रहा कि हमारे पास अधिक है...अधिक धन, अधिक प्रभाव, अधिक सम्मान।

और फिर, अचानक, वार हुआ। बाहर के किसी शत्रु से नहीं, बल्कि उन्हीं से जिन्हें हमने खिलाया, पनाह दी, अपना कहा। उन्होंने हमारे नाम को मुक़दमे की फ़ाइल बना दिया। हमारी इज़्ज़त को अदालती दस्तावेज़। हमारी यादों को वकीलों की जाँच-पड़ताल।

उन वर्षों में आक्रोश को सावधानी से सींचा गया, जैसे बीज बरसात का इंतज़ार करते हों।

अब हवा का रुख़ बदल गया था। पहली बूँदें गड़ी की पुरानी ज़मीन पर गिर चुकी थीं। आसमान बोझिल था, किसी भी पल फट पड़ने को तैयार। और उस शाम की ख़ामोशी में, ठीक उसी आँगन में खड़े होकर जहाँ विढंबिनी ने कभी अपनी विनम्र मुस्कान के साथ प्रवेश किया था, हम सबने महसूस किया—हवा में वह तेज़, लोहे-सी गंध। ख़ून और तूफ़ान की गंध।

तूफ़ान अब आने वाला नहीं था।

वह आ चुका था।

अध्याय 3
विश्वासघात और आरोप

यह एक शांत सुबह थी (6:30)। दादी अपनी बेटी के साथ बैठी थीं, उनकी हँसी घर की हल्की गुनगुनाहट में घुली हुई थी। वातावरण में अपनापन और पुरानी यादों की मिठास भरी हुई थी, तभी अचानक एक हलचल ने उस सुकून को चीर दिया और सब कुछ बदल गया।

दरवाज़ा ज़ोर से खुला और तूफ़ान की तरह विढंबिनी अंदर दाख़िल हुई। उसकी बड़ी बेटी उसका हाथ मज़बूती से पकड़े हुई थी, जबकि छोटी बेटी उसकी गोद में थी—उसके मासूम चेहरे पर डर और उलझन साफ़ झलक रही थी। विढंबिनी की आवाज़ गड़गड़ाहट की तरह गूँजी—

"मैं तुम सबको कोर्ट घसीट कर ले जाऊँगी! बस देख लेना, तुम सबको जेल के पीछे डाल दूँगी!"

उसके शब्द हवा में जैसे ठहर गए, और पूरे परिवार को सन्न कर गए। सब लोग आँगन में इकट्ठा थे, मगर विढंबिनी के शब्दों ने सबको जैसे पत्थर बना दिया। वह केवल बोल नहीं

रही थी—वह ज़हर से भरी गालियों से पूरे परिवार को चीर रही थी। हर गाली, हर शाप एक नुकीले हथियार की तरह लग रहा था, जो सीधे दिल में उतरता जा रहा था। मैंने हर चेहरे पर दर्द उकेरा हुआ देखा—पिता के होंठ बंदे हुए थे, माँ के हाथ काँप रहे थे, दादी सा की आँखें आँसुओं से भरी थीं लेकिन वे बाहर आने से इंकार कर रही थीं, और छोटे-छोटे बच्चे एक-दूसरे से चिपककर डर और उलझन में खड़े थे। ऐसा लग रहा था जैसे हवा भी ग़म से बोझिल हो गई हो।

लेकिन वह रुकी नहीं। वह सालों से भीतर पल रहे ज़हर को उगलती चली जा रही थी। किसी में उसे चुप कराने का साहस नहीं था, किसी में उसे रोकने की हिम्मत नहीं थी। अचानक वह दरवाज़े की ओर मुड़ी, अपनी बेटियों को समेटते हुए मानो अब उसके लिए और कुछ मायने ही न रखता हो। उसी क्षण दादी सा आगे बढ़े और मज़बूत आवाज़ में बोले—

"कहाँ जा रही हो?"

विढंबिनी ने उनकी ओर देखा तक नहीं, जैसे हम सब उसके लिए अदृश्य हो गए हों। दादी सा ने अपने भीतर उठते तूफ़ान को दबाते हुए विकार की ओर रुख किया, जो चुपचाप ज़रूरी सामान बैग में भर रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे उन्हें पहले से पता था कि यह दिन ऐसे ही बीतेगा।

दादी सा ने विनती की—

"विकार, उसे रोक लो! बैठकर बात करते हैं, सुलझाते हैं।"

लेकिन विकार ने केवल सिर हिलाया, और उनके होंठों पर हल्की, जानकार-सी मुस्कान तैर गई।

"नहीं। वह लौट आएगी। अभी जाने दो।"

किसी को नहीं पता था बाहर क्या इंतज़ार कर रहा है। ठीक फाटक के बाहर एक कार खड़ी थी, उसका इंजन धीमे-धीमे गुनगुना रहा था—वह कार उसके भाई ने भेजी थी। यह जानकर हम सब हिल गए, और असहाय निगाहों से देखते रहे कि कैसे वह अपनी बेटियों को लेकर चली गई, गाड़ी तैयार थी,।

हम सबने उसके पति की ओर रुख किया और पूछा—

"तुमने उसे रोका क्यों नहीं? कुछ कहा क्यों नहीं?"

उसका जवाब वैसा नहीं था जैसा हमने सोचा था। वह हल्का-सा हँसा—मज़ाक की हँसी नहीं, बल्कि उस इंसान की हँसी, जो बहुत पहले से कड़वी सच्चाई जान चुका हो।

"ये तो इनकी आदत ही है — पता नहीं किस बात पर हमेशा गुस्सा रहती हैं।"

ये शब्द हवा में ऐसे घुल गए जैसे कोई कड़वी चुभन फैल गई हो। एक-एक करके सबके चेहरे उतरने लगे।

पापा और काकाओं ने चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखा, उनकी भौंहें ऐसे सिकुड़ी हुई थीं मानो कोई बोझ उठाए बैठे हों जिसे कह पाना मुश्किल हो। माताएँ और चाचियाँ नज़रें झुका कर बैठ गईं, हल्की-सी आह उनके होंठों से निकली, जैसे मन का सारा बोझ सांस बनकर बाहर निकल आया हो। दादी सा, जो हमेशा इस घर की शांति और धैर्य की स्तंभ रही थीं, स्थिर बैठी रहीं— होंठ कसकर बंद, आँखों में गहरी खामोशी और चिंता की परछाई। यहाँ तक कि बच्चे भी, जो हमेशा शोर और खेल में लगे रहते थे, अचानक चुप हो गए। उनकी हंसी जैसे कहीं खो गई थी, और उनकी मासूम आँखें उलझन भरे भाव से एक बुज़ुर्ग से दूसरे की ओर भटक रही थीं।

और इन सबके बीच, उसका पति खामोश बैठा रहा। उसकी यह चुप्पी उसके तीखे शब्दों से भी ज़्यादा चुभने वाली थी। अगर वह खुद कुछ नहीं बोलेगा, तो बाकी कोई और क्या कहेगा? यही अनकहा सवाल सबके मन में गूंजता रहा।

वह घर, जो अभी कुछ देर पहले तक गर्मजोशी और रौनक से भरा था, अब भारी खामोशी से ढक गया था— ऐसी खामोशी, जिसे तोड़ने की हिम्मत किसी में नहीं थी।

चार दिन बाद...

वह दोपहर बेहद शांत थी, ऐसी जब चंदेरी की गर्मी इतनी भारी लगती है कि पक्षी भी गाना छोड़ देते हैं। करीब दो या तीन बजे का समय रहा होगा, जब उस सन्नाटे को अचानक टेलीफ़ोन की तेज़ घंटी ने चीर दिया। कोई जल्दी से उठा और रिसीवर उठाते ही एक वाक्य बिजली की तरह घर पर गिरा—

“आपके परिवार के पाँच लोगों पर एफ.आई.आर. दर्ज हो चुकी है।”

और वो पांच लोग हैं पापा , राघव काकासाहब, सत्यवर्धन काकासाहब, यशवर्धन भैया और शौर्यवर्धन भैया।

ये शब्द केवल बोले नहीं गए, बल्कि दीवारों से टकराकर गूंजे, नसों में दौड़े और हवा को भी भारी बना गए। एक पल को सब कुछ थम गया। कोई हिला तक नहीं। मानो घर खुद अविश्वास में जम गया हो।

लेकिन असली चोट उसकी चालाकी थी। उसने शिकायत चंदेरी थाने में नहीं की—जहाँ लोग हमें जानते थे, जहाँ सच टिक सकता था। नहीं—उसने पास के शहर का थाना चुना, जहाँ उसकी झूठी बातें बिना रुकावट पनप सकती थीं।

एक पल भी गंवाए बिना, घर के सारे पुरुष एक ही कार में बैठ गए। उनके चेहरे पीले थे, लेकिन संकल्प से भरे। औरतें और बच्चे दरवाज़े पर खड़े रह गए—आँखों में डर, हाथ जुड़े हुए प्रार्थना में।

थाने पर जो दृश्य मिला, उसने रूह तक कंपा दी। हमारे दुश्मन बाहर खड़े थे, मानो जीत का जश्न मना रहे हों। पत्रकार और रिपोर्टर पहले से मौजूद थे—कलम और कैमरे तैयार, जैसे उन्हें पहले ही बुला लिया गया हो। पूरा माहौल एक तैयार किए गए नाटक जैसा लग रहा था—हर कदम, हर नजर जैसे पहले से तय की गई हो।

और फिर सबसे बड़ा वार हुआ। अंदर जाकर पुरुषों को बताया गया—हम पर **पॉक्सो केस** दर्ज किया गया है। सबसे जहरीला आरोप। जब यह खबर हमें मिली, तो वह शब्द नहीं लगे, बल्कि लगा मानो ज़मीन पैरों से खिसक गई हो और हम अंधेरे गड्ढे में लटक गए हों।

शाम को पड़ोस से फुसफुसाहटें आईं। विढंबिनी ने पूछताछ की थी—तेजवर्धनऔर शशिववर्धन की उम्र क्या है। तब दोनों नाबालिग थे। घर पर तो उसने धमकी दी थी—"मैं तुम सातों को जेल में देखूँगी।" लेकिन बयान में नाम घटा दिए। शायद वकील ने समझाया होगा कि ज़्यादा नाम डालने से केस कमजोर हो जाएगा। कभी-कभी ज़हर ज़्यादा डालने से काढ़ा खुद ही संदिग्ध लगने लगता है। असली मामला कभी न तो मुड़ता है और न ही सिकुड़ता है; सिर्फ़ झूठ ही अपनी सुविधा के अनुसार बदलता है। झूठ चाहे कितनी भी सजावट पहन ले, वह हमेशा सच से कमज़ोर ही रहता है।

घर में डर तो भर गया था, हाँ, लेकिन उस डर से भी अधिक मज़बूत था हमारा विश्वास। अपने देवताओं पर विश्वास, न्याय पर विश्वास, यह विश्वास कि सच ठोकर खा सकता है लेकिन कभी गिरता नहीं।"

हमने तुरंत ही चंद्रिका को संदेश भेजा, आग्रह किया कि वह चंदेरी आए और उस कलंक को मिटाए जो उनकी भाभीसा ने परिवार के नाम पर लगा दिया था। चंद्रिका ने देर न की, उसी दिन रात लगभग आठ बजे वह चंदेरी पहुँच गई।

समय गँवाए बिना दादीसा के कमरे में बैठक बुलाई गई। कमरा भारी वातावरण से भरा था, सन्नाटे को केवल साड़ियों की सरसराहट और कुर्सियों की खिसकने की आवाज़ तोड़ रही थी। घर के सभी सदस्य वहाँ मौजूद थे—बुज़ुर्ग गंभीर चेहरों के साथ, और युवा आपस में धीमी फुसफुसाहट करते हुए। चंद्रिका अपने पति के साथ आकर बैठी,, जबकि विकार अपने स्थान पर बेचैनी से बैठा था।

वह रात साधारण बातचीत की नहीं थी—वह रात सच्चाइयों के उजागर होने की थी, जब निष्ठा और विश्वासघात को परिवार की चौखट पर और पूर्वजों की आशीष के सामने तौला जाना था।

“ये सब क्या हो रहा है? तुम्हें कुछ पता भी नहीं था?”

विकार ने तिरछी नज़र से देखा और ठंडी हँसी के साथ बोला, आवाज़ में गुस्सा और अकड़ साफ़ थी—
“पता? मुझे क्या बताना है! वो तो मुझसे भी कहती है—‘तू बेटी को ग़लत तरीके से छूता है।’ और सुन लो, FIR करना तो उसके लिए बहुत छोटी बात है। अगर चाहती, तो ज़हर देकर तुम सबको ख़त्म कर देती... और तुम कुछ भी नहीं कर पाते।”

अचानक हमें वह *दाल* याद आई, जो उसने दी थी और जिसे हमने खाया नहीं था। यह ख्याल आते ही हमारे भीतर गुस्सा और घबराहट का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। यह गुस्सा सामान्य नहीं था, इसमें शक की चिंगारियाँ भी थीं।

विकार कुर्सी पर धड़ाम से टिक गया और अकड़ भरे अंदाज़ में बोला— और हाँ, उस रात की एक और अजीब बात यह रही कि विढंबिनी आधी रात तक किसी से धीमी आवाज़ में बातें करती रही। पूरे घर में गहरी खामोशी थी, बस उसकी फुसफुसाहटें दीवारों से टकरा रही थीं। जब हमने जिज्ञासा से पूछा— “विढंबिनी, किससे बात कर रही हो इतनी देर रात?”

तो अचानक उसका चेहरा बदल गया। वह बुरी तरह तमतमा उठी और गुस्से से बोली—
“तुम्हें इससे क्या मतलब है? मैं किससे बात करूँ या न करूँ, ये मेरा मामला है।”

उस खामोशी में उसकी आवाज़ और भी तेज़ गूँज रही थी। तभी दिल में कहीं एक बेचैन सवाल उठने लगा—आख़िर आधी रात को वह किससे और क्यों बातें कर रही थी?

तब तक चेरुमती ने दृढ़ता से कहा, “मैं और विकार उसके घर जाकर बात करेंगे। शायद अगर हम सीधे उनसे मिलकर समझाएँ, तो उन्हें हमारे पक्ष में लाया जा सके।”

सभी ने सहमति जताई।

कमरे का सन्नाटा और भारी हो गया। हर चेहरे पर सवाल था, हर दिल में शक और गहरा गया।

क्या यह सिर्फ़ उसका गुस्सा था, या उसके भीतर किसी छुपी योजना की झलक?

और उसी पल, बिना कहे ही सबके मन में एक ही जवाब गूंज उठा— *हाँ, शायद विकार भी खेल का हिस्सा है।*

रात नौ बजे के आसपास पुरुष फिर इकट्ठा हुए। ज़्यादा कुछ बताए बिना बोले—"हमें भोपाल जाना होगा, किसी वकील को ढूँढना होगा, इस अंधेरे में कोई रोशनी तलाशनी होगी।"

घर पर औरतें और बच्चे रह गए। वह रात मानो दम घोंटने वाली चादर की तरह उतरी। हम सब आँगन में बैठे रहे। कोई शब्द नहीं बोले गए। चुप्पी ही भाषा बन गई—औरतों की नजरों का आदान-प्रदान, बच्चे की कसकर पकड़ी हथेली, अनजाने में निकलती गहरी साँसें।

समय रेंगता रहा। रात ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही थी। तीन बजते-बजते हम अपने-अपने कमरों में चले गए, लेकिन नींद हमसे कोसों दूर थी। वह ऐसे मंडराती रही जैसे कोई बेचैन चिड़िया, जो बैठने को तैयार न हो।

फिर सुबह के पाँच बजे, जब आकाश में उजाले की पहली लकीर खिंच रही थी, एक आवाज़ ने सन्नाटे को तोड़ दिया। अजीब। अनजान। असहज। न यह पंछी की पुकार थी, न सुबह की सामान्य हलचल। कुछ और था।

पूरा घर एक साथ जाग उठा। दिल धड़कने लगे। आँखें फैल गईं। और उस एक पल के लिए ऐसा लगा—जैसे घर खुद साँस रोके खड़ा है, इंतज़ार कर रहा है कि आगे क्या होने वाला है...

सायरनों की चीत्कार ने सन्नाटे को चीर डाला। उनकी तीखी आवाज़ें हर पल और तेज़ होती गईं, यहाँ तक कि लगा मानो घर की दीवारें तक काँप रही हों। कुछ ही पलों में हमारा घर घिर चुका था—चमकती लाइटें, भारी बूटों की धमक, और पुलिस की लोहे जैसी मौजूदगी ने हमें कैदियों-सा जकड़ लिया।

हम सब आँगन में इकट्ठा हो गए, साँसें थमी हुईं, होंठ बंद। वहाँ जो खामोशी थी, वह शांति की नहीं बल्कि बेबसी की थी। क्या कर सकते थे हम? वर्दी और हुकूमत की ताक़त के सामने हमारे पास हथियार सिर्फ़ धैर्य था।

घर चारों ओर से पुलिस से घिरा हुआ था। ऐसा लग रहा था मानो दीवारों पर ही कोई अदृश्य बोझ डाल दिया गया हो। भीतर का वातावरण भारी था—नींद, चैन और सुकून सब जैसे छिन चुके थे। उसी बेचैन माहौल में इंदुमती धीरे-धीरे चंद्रिका के कमरे में गई। काँपते हाथों से उसने कूलर बंद किया और पास झुककर उसका नाम पुकारा।

चंद्रिका हिली, उसकी पलकें झपकीं और वह अचानक चौंककर उठ बैठी। उसकी आवाज़ में खीझ साफ़ झलक रही थी—

"इंदुमती काकीसाब ने तो मुझे सोने ही नहीं दिया।"

इंदुमती की थकी हुई सहनशीलता वहीं टूट गई। उसके शब्दों में कड़वाहट और पीड़ा घुल आई—

"सोना? तुम नींद की बात करती हो, जब हममें से किसी ने भी रातभर आँख तक नहीं मूँदी। बच्चे तक बेचैनी में करवटें बदलते रहे। तुम्हें पता भी है हमारे साथ क्या बीत रही है? नहीं... तुम्हें तो बस चैन की नींद चाहिए थी, जबकि हम सब चिंता की आग में जलते रहे।"

तभी, अचानक पिछली दीवार से दो साए उभरे। दीवार फाँदकर ऐसे भीतर घुसे मानो उजाले से ज़्यादा अँधेरा उनका साथी हो। वे पिछला दरवाज़ा पीटते और चिल्लाते रहे— उन्हें खोलने के लिए। उनकी बेचैनी अजीब थी, लगभग हड़बड़ाहट जैसी। हमने दरवाज़ा खोलने से इंकार कर दिया, उनके इस ज़िद्दीपन ने हमें और भी असहज कर दिया। मगर जब उन्होंने विनती करनी शुरू की, तब शक और गहराने लगा।

उन्हें खबर कैसे मिली? किसने उन्हें बुलाया? और सबसे बड़ा सवाल—*क्यों वही?*

जल्द ही यह बेचैनी शक से यक़ीन में बदल गई। सबसे पहले रुद्रांगनी, अस्मिता और वसुंधरा की निगाहें गईं—उनकी पैनी नज़रें उन छोटी-छोटी हरकतों को पकड़ चुकी थीं जिन्हें और कोई न देख पाता। वे दोनों बार-बार मोबाइल में झुके रहते, जल्दी-जल्दी मैसेज भेजते, फोन मिलाते, और हर बार कोने में खिसककर जैसे परछाइयों में छिपने की कोशिश करते। मानो घर की हर धड़कन, हर हरकत वे बाहर किसी को सुना रहे हों।

सच्चाई बिजली की तरह गिरी—ये भाई नहीं, जासूस थे। हमारे दुख के बीच रोपे गए भेदी। हमने उनके फोन छीन लिए, गुस्से और अविश्वास से भरे हुए।

और जब आख़िरकार पुलिस चली गई—सायरनों की गूँज और डर की गंध पीछे छोड़कर—तब वे भी धीरे से अँधेरे में गुम हो गए। मगर एक सवाल धुएँ की तरह हमारे बीच तैरता रह गया: *वे आए किसलिए थे? हमारे लिए... या हमारे ख़िलाफ़?*

घंटों की बेचैनी के बाद पुलिस चली गई, लेकिन उनके जाते ही घर पर उतर आई चुप्पी और भी भयावह थी। हर ईंट, हर दरवाज़ा जैसे हमारी धड़कनों को सुन रहा हो। तभी भोपाल से फ़ोन आया। पिताओं की आवाज़ में कठोरता भी थी और गहरी चिंता भी— *"तुरंत घर छोड़ दो। वहाँ रुकना सुरक्षित नहीं है।"*

हमने बिना समय गँवाए घर के दरवाज़े बंद किए और बाहर निकल पड़े। उस रात हमारे अपने घर की दीवारें भी हमें पराई और ठंडी लगीं। रास्ते भर हमारे कदमों में डर और अनिश्चितता गूँजती रही।

आख़िरकार हम नाना-नानी के घर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही राहत की हल्की साँस ली, लेकिन सुकून अधूरा था। वह घर बचपन से हमारे लिए प्यार और सुरक्षा का प्रतीक रहा था, पर उस रात उसकी दीवारों पर भी अजनबी छायाएँ डोलती-सी लगीं।

हम वहाँ दो दिन तक ठहरे। दो दिन—जब हर छोटी-सी आवाज़ हमें चौका देती। गली में कुत्ते भौंकते तो दिल दहल उठता, कोई दरवाज़ा ज़रा-सा चरमराता तो लगता जैसे कोई घुस आया हो। नाना-नानी हमें दिलासा देते, कहते—"यह घर तुम्हारा है, यहाँ कोई तुम्हें छू भी नहीं सकता।" लेकिन उनके अपने चेहरे की लकीरें सब कुछ कह देतीं। वे भी डरे हुए थे, पर हमें टूटने से बचाने के लिए अपने डर को भीतर छुपा रहे थे।

उन दो दिनों में हमने जाना कि सुरक्षा जगह से नहीं, बल्कि विश्वास से आती है। और जब विश्वास भी हिलने लगे, तो दुनिया का कोई भी दरवाज़ा असली आसरा नहीं बन पाता।

हम लोग अभी अपने ननिहाल में ही थे कि कहीं और एक अप्रत्याशित घटना घट रही थी। चंद्रिका, उसका पति, विकारऔर हमारा चचेरा भाई गजराज भैया (बुआ का बेटा) विढंबिनी के घर गए। विढंबिनी का घर दूर नहीं था, छतरपुर के पास ही।

वहाँ पहुँचते ही अजीब बात हुई। भीतर जाने से पहले उन्होंने गजराज भैया से कहा कि वह बाहर ही बैठें, और तीनों चुपचाप विढंबिनी के कमरे में चले गए। सवाल उठता है—गजराज भैया को बाहर क्यों बैठाया गया? भीतर आखिर कैसी बातें हो रही थीं? क्या कोई योजना बन रही थी, कोई षड्यंत्र रचा जा रहा था?

कुछ ही देर में विढंबिनी का भाई बाहर आया। उसने बिना किसी हिचकिचाहट के गजराज भैया के हाथ में एक कागज़ थमा दिया और सहज लहजे में बोला—
"अगर चाहते हो कि हम केस वापस लें, तो इन छोटी-सी माँगों को पूरा कर दो।"

लेकिन जब गजराज भैया ने कागज़ खोला, तो माँगें 'छोटी' तो बिल्कुल भी नहीं थीं। उस सूची में लिखा था—

ललितपुर में एक करोड़ का मकान।

दोनों बेटियों के नाम पचास–पचास लाख की एफ.डी.।

एक करोड़ रुपये नकद।

ये शब्द हवा में भारी होकर तैरने लगे। गजराज भैया ने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने चुपचाप कागज़ मोड़ा, हाथ में दबाया और बाकी सबके साथ गाड़ी में बैठ गए। बिना एक शब्द कहे, वे लोग वापस चंदेरी की ओर लौट पड़े।

लेकिन कहानी यहीं ख़त्म नहीं हुई। जब ये लोग रास्ते में थे, तभी विकार के पास फ़ोन आया। फ़ोन पर साफ़ आवाज़ आई— "वो जो लिस्ट मिली है, उसे फाड़ दो, वरना इसे सबूत की तरह इस्तेमाल करोगे।"

यह सुनते ही तुरंत तीनों—चंद्रिका, उसका पति और विकार—गजराज भैया से बोलने लगे, "हाँ हाँ, फाड़ दो, अभी फाड़ दो!"

गजराज भैया चुपचाप उनकी ओर देखने लगे। उनके दिमाग़ में सवाल गूंज रहे थे— आख़िर इतनी जल्दी में ये लोग क्यों चाहते हैं कि कागज़ नष्ट हो जाए? अचानक उन्होंने जेब से एक दूसरा कागज़ निकाला, उसे फाड़ा और कार की खिड़की से बाहर उड़ा दिया। तीनों ने राहत की साँस ली, जैसे कोई बड़ा बोझ उतर गया हो।

लेकिन...क्या आपको यहाँ कुछ अजीब नहीं लगता?

विढंबिनी से अकेले जाकर मिलना...फिर चुपके से लिस्ट मिलना...फिर उसी लिस्ट को तुरंत नष्ट करने के लिए ज़ोर डालना...और सबसे अजीब यह कि इन सब में तीनों की बेचैनी के पीछे जैसे कोई और लालच छिपा हो। क्या उन्हें भी इसमें हिस्सा मिलने वाला था? या फिर यह पूरा खेल पहले से रचा गया था?

घर लौटने के बाद, तीनों—चंद्रिका, उसका पति औरविकार—हमें समझाने की कोशिश करने लगे। वे बार-बार यही कहते रहे कि अगर हम लिस्ट में लिखी चीज़ें दे दें तो मामला यहीं सुलझ जाएगा। लेकिन घर के किसी ने भी उनकी बात नहीं मानी। हाँ, गजराज भैया ने वह लिस्ट हमें दे दी, मगर इस बात की उन्हें भनक तक नहीं लगी।

थोड़ी देर बाद विकारअपने कमरे में आराम करने चला गया। उसी समय दादीसा की बेटी भी उसके कमरे की ओर बढ़ी—शायद किसी ज़रूरी बात के लिए। वह दरवाज़े पर दस्तक देने ही वाली थी कि अंदर से उसकी आवाज़ सुनाई दी। विकारकिसी से बात कर रहा था।

जिज्ञासा के चलते उसने धीरे से दरवाज़ा खोला और पूछा, "क्या आप विढंबिनी से बात कर रहे हो?"

विकार ने एकदम सामान्य ढंग से नज़र उठाई और सहज स्वर में कहा, "हाँ, सब ठीक है। मैं तो बस उसे समझाने की कोशिश कर रहा हूँ।"

उसने और कुछ नहीं कहा। चुपचाप दरवाज़ा बंद किया और अपने कमरे में लौट आई। लेकिन भीतर कहीं यह बेचैनी उसके साथ चिपक गई कि उसने जो सुना, उसके पीछे कुछ और छिपा तो नहीं?

लेकिन कहानी की साज़िश यहीं खत्म नहीं हुई।

इज़्ज़त पर लगे दाग़ मिटे नहीं, बल्कि हर गुज़रते दिन के साथ और गहरे होते चले गए। जब-जब हमें लगा कि अब तूफ़ान थम जाएगा, तब-तब कोई नया हमला हमारे सामने आ खड़ा होता।

हमारी हालत उस पंछी जैसी थी जो अँधेरी रात में रोशनी ढूँढता है—पर हर तरफ़ सिर्फ़ सन्नाटा और साया। या यूँ कहिए, मानो सामने खड़ा दुश्मन तलवारें ताने तैयार हो और हमारे हाथ बिल्कुल खाली हों।

हम बस खड़े थे—सच्चाई पर विश्वास के सहारे। लेकिन मन के किसी कोने में एक सवाल बार-बार चुभता रहा—

क्या सच की जीत होगी या साज़िश की जड़ें और गहरी होंगी?

और यहीं से शुरू होता है वह मोड़... जहाँ कहानी का रंग और गहरा, और जंग और कठिन हो जाती है।

झूठ के नग़ारे दुश्मनों के आँगन में गूँज रहे थे।
हवा तक में उनकी बनावटी जीत की गंध भर गई थी।
उनकी आँखों में चमक थी, मानो विजय अभी उनके हाथों में हो,
लेकिन सच की धीमी फुसफुसाहट कानों में दस्तक दे रही थी।
और जैसे ही सत्य की पहली किरण ने उनके छल के परदे को चीर डाला,
उनकी ठहाकों में भी एक अनजाना कम्पन उतर आया।

अध्याय 4
न्याय के लिए संघर्ष

सूरज की पहली किरण ने जैसे ही चंद्रेरी की हवाओं को स्पर्श किया, आँगन में सुनहरी आभा बिखर गई। यह भोर पिछले कई महीनों के थकान-भरे दिनों से अलग थी। मानो आकाश स्वयं कोई शुभ संकेत लेकर आया हो। घर के मंदिर से घंटियों की हल्की-हल्की ध्वनि गूँज रही थी और तुलसी चौरा से आती धूपबत्ती की सुगंध वातावरण को और भी पवित्र बना रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि आज देवियाँ स्वयं हमारे संघर्ष में आशीर्वाद देने उतरी हों।

रात भर हम सब बेचैन नींद में डूबे रहे। हर साँस पर एक बोझ था—हमारे ही घर की दीवारों के भीतर रचे जा रहे षड्यंत्रों का बोझ। षड्यंत्र, साक्ष्य, गवाह—ये कानूनी शब्द अब हमारे जीवन का हिस्सा बन चुके थे। हर दिन किसी नए अभियोग और किसी नए प्रतिवेदन (report) के दबाव में बीतता था। हम मानो अदालत की चौखट पर बिना गए भी उसकी छाया में जी रहे थे।

लेकिन उस सुबह जैसे ही हम जागे, काका साहब की आवाज़ ने पूरे घर को राहत की साँस दी। उन्होंने सभी को बुलाकर कहा—

"अब हमारा मामला सामान्य जाँच से आगे बढ़कर सी.आई.डी

के हाथों में सौंपा गया है। उनके अधिकारी यहाँ आकर पूछताछ करेंगे।"

उनके यह शब्द सुनते ही घर के कोने-कोने में फैली घुटन जैसे टूट गई। हमें पहली बार लगा कि न्याय की दिशा में एक ठोस कदम उठा है। मन के भीतर से कोई बोझ उतर गया, आँखों के सामने अंधकार की जगह एक हल्की-सी रोशनी झिलमिलाने लगी।

उस पल दादी सा का चेहरा सबसे ज्यादा चमक रहा था। उनकी आँखों में वर्षों का अनुभव था, लेकिन उस क्षण वे अपनी उम्र भूलकर एक माँ की तरह खिल उठीं। उन्होंने बेटों को देखकर कहा—

"हमारे लालों की सच्चाई अब खुलेगी... तुम सबने जो सहा, उसका अब फल मिलेगा।"

दादी सा ने जब अपने काँपते हाथों से बेटे के सिर पर आशीर्वाद रखा, तो वह स्पर्श पूरे घर के लिए संबल बन गया। उनकी मुस्कान ने बेटों के थके चेहरे पर नई ऊर्जा भर दी।

खिड़की से आती हवा अब बोझिल नहीं, बल्कि ताज़गी से भरी लग रही थी।

उनके स्वर और दादी सा की खुशी ने पूरे परिवार को विश्वास दिलाया कि यह सुबह केवल एक और दिन की शुरुआत नहीं, बल्कि न्याय के संघर्ष की दिशा में एक नए अध्याय का उदय है।

"खुशी इस बात की थी कि सी.आई.डी. का असली काम सच को बाहर निकालना था। जैसे सूरज की पहली किरण घने अंधेरे को चीर देती है, वैसे ही हमें उम्मीद थी कि अब सच भी अंधेरे से निकलकर सबके सामने आएगा। हमें भरोसा था कि झूठ चाहे कुछ समय के लिए राज करे, परंतु 'सत्यमेव जयते' का सिद्धांत अंततः विजय पाता है। जैसे घने बादलों के बीच छिपी हुई रोशनी फिर से धरती पर चमकती है, वैसे ही सी.आई.डी. की जांच हमें यह विश्वास दिला रही थी कि सच्चाई अपने आप को अवश्य प्रकट करेगी। दिल को तसल्ली थी कि अब वह समय दूर नहीं जब झूठ की नींव ढह जाएगी और सत्य की इमारत और भी मज़बूती से खड़ी होगी।"

अभी घर का वातावरण थोड़ी देर के लिए शांत ही हुआ था कि अचानक बाहर से गाड़ियों की गड़गड़ाहट सुनाई दी। पहियों की चरमराहट और ब्रेक की तीखी आवाज़ ने पूरे आँगन की चुप्पी को तोड़ दिया। सभी ने एक साथ दौड़कर बाहर झाँका।

दरवाज़े पर वही खड़े थे—**सी.आई.डी. के अधिकारी।**

उनका प्रवेश किसी आँधी जैसा था—सधा हुआ, अधिकारपूर्ण, और ऐसा भार लिए हुए जिसे नकारा नहीं जा सकता था। उनके जूतों की ठक-ठक मानो यह ऐलान कर रही थी कि अब जाँच सचमुच हमारे घर तक पहुँच चुकी है।

उनकी कार्यवाही भी पूरी तरह औपचारिक थी। सबसे पहले उन्होंने *प्राथमिक निरीक्षण* शुरू किया। एक अधिकारी ने, जिसकी डायरी पर सरकारी मोहरें लगी हुई थीं, अपने साथियों को आदेश दिया— "पूरा घर दिखाइए। हर कमरा, हर कोना।"

हम सबने बिना किसी झिझक के सहयोग किया। वे पूछते रहे—यह कमरा किसका है? यहाँ कौन रहता है? हाल ही में किसने जगह बदली? सवाल सटीक थे, औपचारिक थे, जिनमें किसी भी प्रकार की कहानी गढ़ने की गुंजाइश नहीं थी। और हमने हर सवाल का सच-सच जवाब दिया।

हमने यह भी बताया कि **कोविड-19** के समय से पूरा परिवार चंदेरी आ चुका था और तबसे कोई भी वापस कहीं नहीं गया। घर हमेशा चहल-पहल से भरा रहता था। हर कमरे

से बच्चों की हँसी-ठिठोली, और माँ-बाप की डाँट-फटकार की आवाज़ें गूंजती रहतीं। कोई कोना खाली नहीं था—हर जगह जीवन का शोर और अपनापन था।

इसके बाद दूसरी प्रक्रिया शुरू हुई।

बैठक-कक्ष में अधिकारियों ने अपना सामान जमाया, फाइलें खोलीं और जाँच-पड़ताल के औज़ार व्यवस्थित किए। वह कमरा अचानक किसी अस्थायी अदालत में बदल गया। कागज़ों की खड़खड़ाहट भविष्य के निर्णय की फुसफुसाहट जैसी लग रही थी। उन्होंने सबको बारी-बारी से बुलाना शुरू किया—*गवाही* दर्ज करने के लिए।

हम देखते रहे—हर नाम पुकारा जाता, सदस्य अंदर जाता, और फिर बाहर निकलता। हर शब्द, हर ठहराव अब **केस डायरी** का हिस्सा बन रहा था।

आख़िरकार हमारी बारी भी आ गई।

दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। पर हम अकेले नहीं थे। हमारे साथ **रुद्राग्नि दीदी, अस्मिता दीदी और वसुंधरा दीदी** भी थीं। हम सब मिलकर बैठक-कक्ष में दाख़िल हुए—मानो अपने ही घर की दीवारों के भीतर बने एक अदालत-कक्ष में कदम रख रहे हों।

खिड़की से आती धूप सीधे उस मेज़ पर गिर रही थी जहाँ अधिकारी बैठे थे। उनकी कलमें तैयार थीं, आँखें पैनी। अब हमारी बारी थी—सच कहने की, और उन झूठे आरोपों का बोझ उतारने की।

जब मेरा नाम पुकारा गया, तब तक पूरे वातावरण का बोझ हमारे ऊपर जैसे बैठ चुका था। मन में इतना तनाव था कि साँस लेना भी भारी लग रहा था। मेरी हथेलियाँ पसीने से भीग चुकी थीं और उंगलियाँ बर्फ़ जैसी ठंडी। कमरे में भीड़ और गर्माहट थी, लेकिन मुझे भीतर से अजीब-सी ठंडक घेर रही थी।

मेरी बहनों से पहले ही सवाल-जवाब हो चुके थे। एक-एक करके उनसे सख़्त और लगातार प्रश्न पूछे गए, और उन्होंने पूरे आत्मविश्वास से उत्तर भी दिए। मैं उन्हें देखती रही—उनकी आवाज़ स्थिर थी, आँखें डटी हुईं। लेकिन जब मेरी बारी आई, तो मेरा शरीर मानो जड़ हो गया।

अब नज़रें मेरी ओर मुड़ीं।

अधिकारियों ने अपनी कलमें उठाई और पहली बार मुझसे सीधा सवाल किया—“तुम किस स्कूल में पढ़ती हो?”

यह सबसे आसान सवाल था, लेकिन आश्चर्य की बात है कि मेरा दिमाग़ जैसे बिल्कुल ख़ाली हो गया। मुँह खुला, पर शब्द बाहर नहीं निकले। कुछ पल का मौन पूरे कमरे पर छा गया। मुझे लगा जैसे सबकी निगाहें मेरी हिचकिचाहट पर टिक गई हों।

तभी वसुंधरा दीदी ने तुरंत बात संभाली। उन्होंने हमारे स्थान पर स्पष्ट उत्तर दे दिया। उनकी आवाज़ मज़बूत थी, सुरक्षात्मक—जैसे हमारे सामने एक ढाल खड़ी कर दी हो। मैंने धीरे से साँस छोड़ी, उनके सहारे के लिए मन ही मन आभारी हुई।

लेकिन पूछताछ यहीं नहीं थमी।

अगला प्रश्न सीधा मुद्दे पर था— "भानुमति के बारे में क्या कहना है?"

इस बार मेरी आवाज़ नहीं कांपी। मैंने पूरे विश्वास के साथ कहा— "वह अक्सर मुझसे पूछती थी कि तुम्हारे पापा और काकासाब लोगो के पास इतना पैसा है तो हमारे पापा के पास क्यों नहीं है और लगभग एक साल पहले उसने मुझसे साफ़ कहा था कि एक साल बाद वह अपने मामा के घर चली जाएगी। और अब—ठीक वही समय पूरा हो गया है।"

अधिकारी एक-दूसरे को देखते हुए नोटबुक पर तेज़ी से लिखने लगे।

इस तरह सवाल दर सवाल आते गए और हमने हर एक का स्पष्ट जवाब दिया। कोई भी बात छिपाई नहीं, कोई भी उत्तर अधूरा नहीं छोड़ा। एक-एक तथ्य उनके सामने रख दिया गया—मानो अदालत में गवाही दर्ज की जा रही हो।

पूछताछ का वह दौर जैसे-जैसे पूरा होता गया, हम सबके दिल की धड़कनें भी धीरे-धीरे सामान्य होने लगीं। सवालों के बीच जो घबराहट और सन्नाटा छाया हुआ था, वह अब कुछ हल्का लगने लगा। और जब आख़िरकार काग़ज़ों पर कलम थम गई और अधिकारियों ने नज़रें हमसे हटाईं, तो हम सबने एक साथ मानो लंबी साँस ली।

हमने राहत की साँस ली—सोचा शायद अब सब कुछ ठीक हो जाएगा। कमरे का बोझिल वातावरण भी जैसे कुछ पल के लिए हल्का हो गया था। लेकिन कहीं भीतर एक अनकहा डर अब भी दबा हुआ था—क्या सचमुच मुश्किलें यहीं समाप्त हो जाएँगी, या यह तो बस आने वाले तूफ़ान से पहले की थोड़ी-सी शांति है?

कुछ ही दिनों बाद फिर से तूफ़ान हमारे दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ। हम पहले से जानते थे कि *विढंबिनी* और उसके साथी, जिन्हें भी यह सच्चाई की खोज करने वाली **CID वाली बात** नागवार गुज़री होगी, वे इतनी आसानी से चुप बैठने वाले नहीं थे। और वही हुआ—एक दिन हमें एक अजीब-सा संदेश मिला। उसमें लिखा था कि "केस से जुड़ी कुछ अहम बातें करनी हैं।"

घर में बातचीत हुई कि अब ये लोग फिर कुछ करने वाले हैं। लेकिन हमने तय किया कि देखते हैं, क्या होता है। हमारी ओर से केवल दो-तीन लोग ही गए। उनकी तरफ़ से कौन-कौन मौजूद था, इसका मुझे ठीक-ठीक पता नहीं, मगर इतना पक्का है कि **विढंबिनी का भाई वहाँ ज़रूर था।**

जगह भी अजीब चुनी गई—**उनके जान-पहचान वालों का फार्महाउस**, जो शहर से थोड़ा बाहर, एक सुनसान इलाके में था। जैसे ही हमारे लोग वहाँ पहुँचे, भारी-भरकम गेट चरमराते हुए खुला। भीतर जाते ही सन्नाटा कानों में गूंजने लगा, जैसे दीवारें भी कोई रहस्य छिपा रही हों। हवा में गीली मिट्टी की हल्की सी गंध थी, और कहीं दूर से कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आती रही।

वहाँ पहुँचकर जो माँग रखी गई, उसने सबको हिलाकर रख दिया। यह कोई छोटी माँग नहीं थी—**पूरे पाँच करोड़ रुपये**। उनकी आवाज़ में अहंकार और धमकी का ज़हर मिला हुआ था। और उन्होंने साफ़ कह दिया— *"अगर कल तक जवाब मिल गया, तो केस वापस ले लेंगे। और हाँ, विढंबिनी भी इसी शहर में है।"*

जब यह संदेश घर पहुँचा, तो मानो अंगारों पर पैर रख दिए हों। सबके चेहरे तमतमा उठे। भीतर ही भीतर एक ज्वाला-सी जल रही थी। सवाल सबके मन में एक ही था—**"जब हमने कुछ किया ही नहीं, तो यह सब क्यों सहना पड़ रहा है?"**

फिर भी, उस घुटन और तनाव के बीच, हमारे भीतर का विश्वास अडिग रहा। हम जानते थे कि हमारा निशाना अचूक है—**सच की जीत होगी**। यही सोचकर हमने न उन्हें कोई जवाब दिया और न ही उनकी माँग पूरी की।

सन्नाटा हमारे पक्ष में था, क्योंकि वह सन्नाटा हमारे धैर्य और दृढ़ संकल्प की गवाही दे रहा था।

ऐसे संदेश सिर्फ़ एक बार नहीं आए।

बार-बार, अलग-अलग तरीक़ों से हमें दबाव डालने की कोशिश की गई। कभी फोन पर, कभी किसी पहचान वाले के ज़रिये खबर पहुँचाई जाती कि "अगर मान जाओ तो मामला सुलझ सकता है।"

और हाँ—**चंद्रिका** भी कई बार फ़ोन कर-करके हमें मनाने की कोशिश करती रही। लेकिन जब हमारी ओर से कोई जवाब नहीं मिला, तो वह ग़ुस्से में कहती— *"पैसे देकर सब ख़त्म करो... आखिर बेकार की ये जिद क्यों पकड़े बैठे हो? तुम लोग ही सबको मुश्किल में डाल रहे हो!"*

उसकी बातों में शिकायत और ताना साफ़ झलकता था। मगर हमारे लिए यह सिर्फ़ पैसों का मामला नहीं था, यह **सच और इज़्ज़त** का सवाल था। हम जानते थे कि झुकना आसान रास्ता है, पर सही रास्ता नहीं।

इसलिए हमने उसके शब्द सुने ज़रूर, लेकिन मानना कभी ज़रूरी नहीं समझा। धीरे-धीरे हमने इन सब बातों पर गौर करना ही छोड़ दिया।

हमारा मौन और अडिग विश्वास ही हमारा उत्तर बन चुका था।

न सब घटनाओं के कुछ ही दिन बाद **राजेश्वरी जी**, जो कि *चंद्रिका और विकारकी माँ थीं*, उनकी तबियत धीरे-धीरे बिगड़ने लगी।

शुरुआत में यह मामूली थकान और कमजोरी लगी, मगर हालत धीरे-धीरे गंभीर होती गई। उसी समय **चंद्रिका** उन्हें अपने ससुराल ले गई, शायद यह सोचकर कि वहाँ रहकर इलाज और देखभाल बेहतर होगी।

लेकिन वहाँ पहुँचकर असली कारण सामने आया—**राजेश्वरी जी को ब्रेस्ट कैंसर था।** यह खबर सुनते ही पूरा परिवार गहरे सदमे में डूब गया। उसी दौरान चंद्रिका का फोन दादी सा के पास आया। उसकी आवाज़ में जल्दबाज़ी और थोड़ी खीझ मिली हुई थी— *"मम्मी की तबियत बहुत खराब है... दिखाने के लिए पैसे चाहिए, आप तुरंत भिजवा दीजिए।"*

दादी सा ने बिना एक पल सोचे, बिना कोई सवाल किए, **कई लाख रुपये तुरंत भेजवा दिए।**

लेकिन कुछ ही दिनों बाद एक और फोन आया—चंद्रिका का स्वर इस बार भारी था। उसने खबर दी कि **"मम्मी अब इस दुनिया में नहीं रहीं।"**

यह सुनकर पूरा परिवार भीतर तक हिल गया। वह माँ, जिसने इतने सालों तक अपने बच्चों और घर को सँभाला, जिनके स्नेह और त्याग से यह परिवार बसा था, अब हमेशा के लिए चली गईं।

हमने तुरंत कहा कि राजेश्वरी जी को चंदेरी लाया जाए ताकि **उनके अंतिम संस्कार के सभी संस्कार पूरे परिवार की मौजूदगी में किए जा सकें।**

अगले ही दिन विधियाँ आदर और श्रद्धा के साथ पूरी कर दी गईं।

लेकिन इस शोक के बीच एक अजीब बात सबकी नज़रों में आई।

जब किसी ने सहज ही *चंद्रिका और विकारसे योगदान* की बात छेड़ी, तो उन्होंने न तो कुछ कहा और न ही कोई इच्छा जताई।

पंद्रह दिन भी नहीं बीते थे कि दोनों चले गए— चंद्रिका अपने ससुराल और विकारकहीं घूमने निकल गया।

जबकि घर का हर कोना अब भी राजेश्वरी जी की याद और उनकी कमी से गूंज रहा था।

लेकिन यह सब होने के बाद भी **काकासाहब लोगों ने कभी हार नहीं मानी।** हर रोज़ एक नई चुनौती सामने आ खड़ी होती थी—कभी कोई अफवाह, कभी नया आरोप, तो कभी अचानक से बुलावा।

मगर उन सबके बीच एक ही आसरा था—**दादी सा।**

दादी सा हर सुबह अपनी चौकी पर बैठकर दीपक जलातीं। घी की लौ से निकलती हल्की-सी ख़ुशबू पूरे आँगन में फैल जाती। घर की हवा में तुलसी और धूप की महक मिलकर एक अलग ही पवित्रता भर देती।

फिर वे अपने बेटों को पास बुलातीं। उनके माथे पर हाथ रखकर धीरे से कहतीं— *"बेटा, सब जल्द ही सही हो जाएगा... बस हिम्मत बनाए रखना।"*

उनकी आवाज़ में ऐसी दृढ़ता और ममता होती कि थके हुए मन को नई ताक़त मिलती।

बेटों की आँखों में पल भर के लिए चमक लौट आती।

यही उनके लिए सहारा था, यही उनकी **ताक़त** थी।

दिन बीतते गए, और इसी तरह महीनों से साल निकल गया।

बाहर की आँधियाँ भले तेज़ होती गईं, लेकिन घर के भीतर दादी सा का आश्वासन एक दीये की तरह लगातार जलता रहा—जो अंधेरे को कभी हावी नहीं होने देता था।

और फिर यह मामला करीब **दो साल तक CID के पास** ही रहा।

पूरे परिवार की साँसें जैसे उस इंतज़ार में अटकी रहतीं—हर रोज़ कोई ख़बर, कोई बुलावा आने का डर। फिर आखिरकार, मामला **कोर्ट में चला गया** और सुनवाई शुरू हुई।

ये दिन आसान नहीं थे। हर तारीख़ पर, घर का माहौल भारी हो जाता। सुबह जल्दी-जल्दी उठकर तैयारी होती—काग़ज़ात सँभालना, गवाहों की बातें याद करना। बाहर की सड़क पर अदालत की गहमागहमी, पसीने से तरबतर वकील, और दीवारों से टकराकर लौटती आवाज़ें—ये सब परिवार के दिलों पर दबाव बढ़ा देतीं।

मगर इन कठिन दिनों में भी, **पापा और काकासाहब लोग कभी ज़िम्मेदारियों से पीछे नहीं हटे।**

दिन भर तनाव और उलझनों से घिरे रहने के बाद भी, शाम को घर लौटकर वे बच्चों की पढ़ाई पर नज़र डालते। उनके हाथों में भले काग़ज़ों का बोझ होता, लेकिन आँखें हम बच्चों की कॉपियों पर टिक जातीं।

रसोई से आती सब्ज़ियों की महक, , और बीच-बीच में पंखे की घरघराहट—इन सबके बीच भी ज़िंदगी चलती रही।

घर का खर्च, बच्चों की ज़रूरतें, छोटी-छोटी इच्छाएँ—सब कुछ वैसे ही पूरा होता रहा, जैसे कोई बोझ नहीं है।

इस POCSO मामले में सबसे अधिक पीड़ा हमारे पिता, हमारे दो काकासाहब और हमारे दो भाइयों ने भी झेली। मात्र पच्चीस वर्ष की उम्र में, जब इंसान अपने करियर की नींव रखता है, सपनों को गढ़ता है और परिवार का सहारा बनता है, तब हमारे भाई इन झूठे आरोपों की बेड़ियों में बाँध दिए गए। वह उम्र, जो अवसरों और महत्वाकांक्षाओं से भरी होनी चाहिए थी, अदालत की पेशियों, बेचैन रातों और अपमान से भर गई। विढंबिनी ने अपनी झूठी शिकायतों से न केवल उन्हें क़ानून की अंधेरी गलियों में धकेला, बल्कि उनका भविष्य भी छीन लिया—उनकी शांति, उनका ध्यान और वह सुनहरे साल जो उन्नति के लिए होते हैं।

वो दौर मानो अँधेरे और उजाले का संगम था—बाहर लड़ाई की आँधियाँ थीं, लेकिन घर के भीतर पिता और काकासाहब की दृढ़ता ने एक **सुरक्षा की ढाल** बना रखी थी।

मैंने अपनी आँखों से देखा है, सत्यवर्धन काकासाहब की चार वर्षों की अथक मेहनत। इस पूरे मामले की जिम्मेदारी केवल उन्हीं के कंधों पर थी। वे हमारे पिता से बड़े और अन्य भाइयों से छोटे हैं । जिन चेहरे को मैंने हमेशा गाँववालों के बीच, उनकी समस्याएँ सुलझाते हुए खुले आकाश तले मुस्कुराते देखा था, वही चेहरे उस समय चारदीवारी के भीतर कैद थे। जो इंसान सदा प्रसन्न रहते थे, उनकी हँसी जैसे कहीं खो गई थी। लेकिन इन सबके बावजूद उन्होंने ठान लिया था कि वे स्वयं को और अपने भाइयों को इस दुष्चक्र से अवश्य मुक्त करेंगे। मानो यह पूरा मामला विढंबिनी जैसी एक गहरी दलदल थी—जिसमें वे लोग जितनी बार निकलने की कोशिश करते, उतनी ही बार और भीतर धँसते चले जाते। पर जब सत्यवर्धन काकासाहब ने अपने मन में यह ठान लिया कि इस परिवार पर लगे दाग को धोना है, तब कोई भी दलदल उन्हें रोक नहीं सका। उनका संकल्प ही वह शक्ति बन गया जिसने अंधेरे को प्रकाश में बदलने की नींव रखी।"

अध्याय 5
अँधेरों के बाद विजय

सालों से जो बोझ दिलों पर था, जो डर और फुसफुसाहटें हर कोने में छुपी रहती थीं—उन सबका अंत अब पास दिखाई देने लगा। जैसे सबसे लंबी रात भी आखिरकार सूरज की रोशनी को रास्ता देती है, वैसे ही हमारे परिवार की ज़िंदगी में भी उम्मीद की किरणें झलकने लगीं।

चिकित्सकीय जाँच की रिपोर्ट जैसे ही आई और यह साफ हुआ कि सब कुछ सामान्य है, मानो परिवार के दिल से बोझ का एक बड़ा पत्थर हट गया हो। चेहरे पर महीनों बाद एक हल्की मुस्कान तैर उठी, और वातावरण में राहत की साँस महसूस होने लगी। लेकिन चैन अधिक देर टिक न सका। कुछ ही समय बाद केस की सुनवाई शुरू हो गई।

अब दिनचर्या बदल चुकी थी—सुबह घर से निकलते ही वकील से मुलाकात, फिर कोर्ट की बेंचों पर घंटों बैठकर बहस सुनना, और लौटते वक्त थके चेहरे लेकिन दृढ़ इरादे। पापा और काकासाहबों का जीवन जैसे उसी अदालत की दीवारों में सिमट गया था। सुनवाईयों के कारण वे कहीं बाहर नहीं जा पाते थे; त्योहारों पर बाहर घूमने, रिश्तेदारों से मिलने या यहाँ तक कि किसी शादी-ब्याह में शरीक होने का भी मौका नहीं मिलता

चारों लोगों को सबसे ज्यादा भरोसा सत्यवर्धन काकासाहब पर था कि वो तो सब संभाल लेंगे... अक्सर जब हम पापा से पूछते कि *"आप इतने निश्चिंत कैसे रह सकते हैं?"* तो वे हँसकर कहते, *"अरे, दाऊ सब सम्भाल लेंगे । यही तो छोटे होने का फ़ायदा है।"*

एक और बात मुझे हमेशा बहुत प्यारी लगती थी।कभी-कभी इतनी टेंशन भरी जिंदगी में छोटे-मोटे किस्से होते रहते थे घर में आम दिनों में पापा सुबह देर तक सोते थे। उनकी आदत थी कि रोज़मर्रा में वे अक्सर 10 या 10:30 बजे के आसपास ही उठते। और वे मज़ाक़ में कहा करते, *"जब तक जियो, राजा बनकर जियो। उठो अपनी मरज़ी से और सोओ अपनी मरज़ी से।"* यह उनका जीवन का मूलमंत्र जैसा है।

लेकिन जब भी सुनवाई का दिन होता, तब घर का माहौल बदल जाता। नियम था कि उन लोगों को10 बजे तक घर से निकलकर कोर्ट पहुँच जाना होता। काकासाहब लोग यह

जानते हुए भी कि पापा देर तक उठते हैं, सुबह-सुबह नौकरों को भेजते। वे 7 बजे ही आकर कहते, *"आज सुनवाई है, पापा को जगा दीजिए।"* लेकिन मज़े की बात ये थी कि पापा तब भी उठते नहीं। नौकर बार-बार जाकर देखते कि पापा उठे या नहीं।

और जब नौकर फिर से आकर जगाते, तो पापा अकसर उनसे मज़ाक़ में कहते, *"दाऊ को मत बताना कि हम सो रहे हैं, उनसे कह देना कि हम उठ चुके हैं।"* अब सोचिए, कोई 45 साल का इंसान ये बातें करे तो कितना प्यारा लगता होगा। यही तो रिश्ता है हमारे घर का — पापा अपने बड़े भाइयों के सामने आज भी छोटे बच्चे ही है।

चलो वापस पापा को देखते हैं कहाँ तक पहुंचे, पापा धीरे-धीरे 9 बजे उठते, फिर चाय पीते। उनकी चाय पीने का एक अपना नियम था — *"चाय पीते समय शांति चाहिए, कोई बात नहीं करेगा, कोई शोर नहीं करेगा।"* अगर हम ज़रा भी कुछ कह देते, तो झुँझलाकर बोल उठते, *"सुबह-सुबह हमें किसी से बात नहीं करनी।"*

पापा की वह बालकनी भी जैसे उनकी दुनिया है। चाय लेकर वहाँ बैठ जाते और चंदेरी के बंदरों को देखते। कभी हँसकर कहते, *"देखो कैसा चढ़ रहा है... देखो कैसे खेल रहा है।"* पापा की हँसी और बंदरों की कूद-फाँद सुबह को और भी मज़ेदार बना देती।

फिर नहाना-धोना होता। अब समय हो चुका होता 9:30 और निकलना है 10 बजे। बाहर सब लोग तैयार, कार में बैठकर इंतज़ार कर रहे होते। सब जानते थे कि पापा अपनी मर्जी से ही करेंगे जो करना है।

इस बीच पापा आराम से नाश्ता करने बैठ जाते। उधर उनके दाऊ बार-बार फोन कर रहे हैं और पापा टालते रहते क्योंकि उन्हें पता होता कि अब डाँट पड़ने वाली है। लेकिन यही तो हमारे घर का रिश्ता था — अपने-अपने अंदाज़ में प्यार और अपनापन।

और हम अकसर छेड़ते हुए कहते, *"पापा, ज़रा देखिए यशवर्धन और शौर्यवर्धन दादा कैसे समय पर तैयार हो जाते हैं। सबको आपके लिए ही इंतज़ार करना पड़ता है। जैसे कोई छोटा बच्चा देर से आने की आदत डाल चुका हो।"*

सच कहूँ तो यही छोटे-छोटे पल हमारे परिवार को ख़ास बनाते थे — ज़िम्मेदारियों के बोझ तले भी एक-दूसरे के बीच छुपा हुआ वह बचपना और प्यार।

चलो हंसी-मज़ाक से बाहर निकल कर फिर से कोर्ट की दुनिया में चलते हैं

हमारे लिए सबसे गर्व की बात यही रही कि इस कठिनाई के बीच भी पापा और काकासाहबों ने एक भी सुनवाई नहीं छोड़ी। हर तारीख पर वे समय से अदालत पहुँचे, चाहे बारिश हो या धूप, चाहे शरीर कितना ही थका हो। उनकी आँखों में केवल एक ही चमक थी—**सच की जीत की उम्मीद**।

इसी दौरान अदालत ने विढंबिनी को भी बयान के लिए तलब किया। पर हर बार वह कोई न कोई बहाना बना देती—कभी स्वास्थ्य ख़राब होने का आवेदन लगा देती, तो कभी किसी और कारण का सहारा ले लेती। इस तरह ही पूरा एक साल टलता चला गया। यहाँ तक कि जब अदालत की ओर से पुलिस जाकर उसे लाने पहुँची, तब भी वह दो दिन बाद ही आई।

सोचिए, जिस बेटी के साथ उसने स्वयं कहा था कि अन्याय हुआ है, उसकी माँ को तो सबसे पहले न्याय के लिए अदालत में खड़ा होना चाहिए था। लेकिन विढंबिनी का बार-बार बचना इस ओर इशारा करने लगा कि शायद अब उसे भी महसूस होने लगा था—झूठ सच की रोशनी के आगे टिकने वाला नहीं है।

और यही बातें मैजिस्ट्रेट की नज़रों से भी छिपी नहीं रहीं। वह हर सुनवाई में गम्भीर दृष्टि से सब देख रहे थे—कौन ईमानदारी से पेश हो रहा है और कौन बहानों के पीछे छिपने की कोशिश कर रहा है। अदालत की ठंडी, गम्भीर हवा में मैजिस्ट्रेट का कलम जब काग़ज़ पर चलता, तो लगता मानो सच की दिशा वहीं तय हो रही हो। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा था कि न्याय अब उसी की ओर झुकने वाला है, जो बिना डरे, बिना भागे हर सुनवाई में सच के साथ खड़ा है।

विढंबिनी की लगातार टालमटोल और अदालत की सख़्ती के बीच धीरे-धीरे समय सरकता गया। सच के करीब पहुँचने का एहसास सभी को होने लगा था। और फिर आया **मई 2025**—वह महीना जब हम सबको भीतर ही भीतर आभास हो गया था कि कहानी अब अपने अंतिम अध्याय की ओर बढ़ चली है। हवा में एक अलग-सी घबराहट तैर रही थी। दिलों में डर तो था ही, क्योंकि सच सामने लाने की यह जंग अपने निर्णायक मोड़ पर पहुँच रही थी।

इसी बीच **हम बच्चों की** गर्मी की छुट्टियाँ भी शुरू हो गईं। हम सब भी घर आ चुके थे। घर का आँगन बच्चों की चहल-पहल से तो भर गया, लेकिन भीतर से हर किसी के मन में एक अजीब-सी घबराहट थी। हम बच्चों को भी डर साफ़ महसूस होता था—बड़े-बुजुर्गों की फुसफुसाहटें, उनकी थकी आँखें और अदालत के काग़ज़ों से भरी अलमारी हर पल हमें याद दिलाती थी कि हम एक असाधारण दौर से गुज़र रहे हैं।

और इस महीने तो सुनवाईयों की रफ़्तार भी तेज़ हो गई थी। हर **दो दिन में अदालत की पेशी** होने लगी। सुबह-सुबह पापा और काकासाहब का तैयार होना, फाइलों की सरसराहट, और दादी सा की आँखों में प्रार्थना—ये सब रोज़मर्रा की रस्मों जैसे बन चुके थे। घर के दरवाज़े पर खड़ा होकर हम बच्चों का उन्हें देखना और फिर धीरे-धीरे जाते क़दमों की आहट सुनना, दिल में डर और उम्मीद दोनों को साथ ले आता था।

अब अदालत की गलियों की गम्भीरता और घर की चौखट की बेचैनी मानो एक हो चुकी थी। सच की इस लड़ाई में हर तारीख़, हर सुनवाई अब आख़िरी पड़ाव की आहट दे रही थी।

आख़िरी के कुछ सुनवाईयों में अदालत का माहौल और भी गम्भीर होता चला गया। एक दिन पड़ोसियों को बुलाया गया—वो पड़ोसी जो हमें हमारे **दादा सा के समय से जानते थे**, जिन्होंने हमारी खुशियाँ और ग़म, दोनों को पास से देखा था। उनकी गवाही ने जैसे अदालत की हवा को बदल दिया। उनकी सीधी-सच्ची बातें सुनकर सबको लगा कि अब सच और मज़बूत हो चुका है।

और फिर आया वह दिन, जब अदालत ने हमारी **दादी सा** को बुलाया। उम्र की थकान उनके कदमों में ज़रूर थी, लेकिन आत्मा में अटूट विश्वास और चेहरे पर ऐसी रोशनी थी जैसे पूरा सत्य उनकी आँखों से झलक रहा हो। धीमे-धीमे परन्तु अडिग क़दमों से जब वे अदालत में दाख़िल हुईं, तो माहौल मानो थम-सा गया। हर कोई उन्हें देख रहा था—एक माँ, जो अपने बेटों की **न्याय की लड़ाई** में पूरी शक्ति और आत्मविश्वास के साथ खड़ी थी।

उनकी आवाज़ काँपी नहीं, बल्कि गूंज उठी। उन्होंने बिना हिचक, पूरे आत्मविश्वास से अपने बेटों का साथ दिया।

और फिर—अदालत से खबर आई कि **दो दिन बाद फैसला सुनाया जाएगा।**

वो क्षण घर में तूफ़ान जैसा था। दिल की धड़कनें तेज़ हो गईं, हर कोई खामोश था, लेकिन आँखों में बेचैनी और उम्मीद दोनों तैर रही थीं। अब खेल अपने चरम पर था—सच और झूठ की अंतिम टक्कर, और फैसला बस दो दिनों की दूरी पर खड़ा था।

से ही हमें पता चला कि **दो दिन बाद फैसला आने वाला है**, हमारे मन में बेचैनी की लहर दौड़ गई। धड़कनें तेज़ हो गईं, हर किसी के चेहरे पर तनाव साफ़ झलकने लगा। उसी घड़ी मेरी माँ—**मीरा**—ने कहा, "हमें **श्री जागेश्वरी माता** के मंदिर में जाना चाहिए। वहाँ जाकर मन को शांति भी मिलेगी और माँ से आशीर्वाद भी।"

उनकी बात सुनते ही माहौल में एक हल्की सी राहत आई। फिर माँ, **वासुंधरा दीदी**, मैं और मेरा छोटा भाई सूर्य प्रताप मंदिर के लिए निकल पड़े। रात का अंधेरा उतर चुका था, लेकिन मंदिर के दीपों की रोशनी मानो हमें अपने पास खींच रही थी।

मंदिर पहुँचते ही वहाँ की शांति, धूप और चंदन की सुगंध ने दिल को छू लिया। घंटियों की मधुर ध्वनि और भजन की धीमी गूँज जैसे बेचैन मन को सहलाने लगी। पंडित जी ने हमारे

कहने पर **ज्योत** जलाई—एक छोटी सी लौ, लेकिन उसमें विश्वास की पूरी ताक़त समाई हुई थी। वो ज्योत लगातार जलती रहेगी, **तब तक जब तक फैसला न आ जाए।**

हम सबने हाथ जोड़कर आँखें मूँद लीं। मंदिर में घंटियों की गूँज और धूप की महक वातावरण को और भी गंभीर बना रही थी। हमारे दिल की धड़कनें जैसे हर क्षण और तेज़ हो रही थीं। अब बस एक रात बीच में थी और फिर आने वाला था वह फैसला, जिस पर हमारे परिवार का भविष्य टिका हुआ था।

अगले ही दिन का वातावरण कुछ अलग ही था। सुबह-सुबह घर में सबको तिलक लगाया गया और दादी सा का आशीर्वाद लेकर पापा और सभी पुरुष निकल पड़े। उस दिन घर पर सिर्फ़ दादी सा, इंदुमती काकीसा, माँ, वसुंधरा दीदी, सूर्य प्रताप और मैं ही रह गए। हम सब एक ही कमरे में बैठे थे, उस जलती हुई ज्योत पर पूरा भरोसा किए हुए। दादी सा बार-बार सीसीटीवी कैमरे की स्क्रीन पर निगाह गड़ाए रहतीं—बस इंतज़ार था कि कब उनके बेटों की गाड़ी घर की ओर लौटती दिखे।

करीब पूरा दिन यूँ ही बेचैनी में बीत गया। फिर शाम के **4:50 पर फ़ोन आया** कि लोग कोर्ट रूम के अंदर जा रहे हैं। उस पल हमारी साँसें जैसे थम-सी गईं, दिल की धड़कनें इतनी तेज़ हो गईं कि मानो कमरे की ख़ामोशी को चीर रही हों। हम सबने आँखें बंद करके सिर्फ़ भगवान को याद किया।

और फिर, ठीक **5:07 पर फ़ोन बजा**। हमने तुरंत फ़ोन उठाया, और उधर से जो शब्द सुनाई दिए, वे हमारी चार साल की तपस्या का प्रतिफल थे—"हम सब जीत गए... वे लोग बरी हो गए।"

उस पल की खुशी शब्दों से परे थी। मैं और वसुंधरा दीदी आँसुओं से भीगे चेहरे लिए दौड़ते-दौड़ते दादी सा के पास पहुँचे और कहा— "दादी सा, हम जीत गए!"

दादी सा की मुस्कान... शायद हमने चार साल बाद देखी थी। उनकी आँखों में चमक और चेहरे पर वह संतोष ऐसा था मानो वर्षों का बोझ एक झटके में उतर गया हो। सच कहूँ तो, जब मैं आज भी इस दृश्य को याद करके लिख रही हूँ, हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, क्योंकि मैंने उस पल को पूरी आत्मा से महसूस किया था।

वहाँ से भी ख़बर मिली कि जब पापा, काकासाहब और दादा कोर्ट रूम से बाहर निकले, तो उनकी आँखों में भी वही चमक थी—ख़ुशी के आँसू, या यूँ कह लो कि चार सालों के दर्द और सहनशीलता के आँसू।

घर पर हमने तय किया कि इस जीत को सिर्फ़ ख़ुशी नहीं, बल्कि उत्सव बनाया जाएगा। पहले से ही थाली तैयार थी—तिलक, हल्दी, चावल और मिठाई से सजी हुई। घर के नौकर

को फूलों की माला लेने भेजा गया, और ढोल वाला भी आ चुका था। अब तो बस सबकी नज़रें दरवाज़े की ओर टिकी थीं, कि कब हमारे वीर लौटकर आते हैं।

और जैसे ही हमने उन्हें देखा... हमारी आँखें फिर से भर आईं। आँसुओं में डूबा हुआ वह क्षण... मानो चार साल का बोझ एक ही पल में उतर गया हो। ढोल वाला ज़ोर-ज़ोर से ढोल बजाने लगा, और पूरा घर गूंज उठा।

वो सीधे दादी सा के पास पहुँचे। दादी सा ने उन्हें आशीर्वाद दिया, तिलक किया, मुँह मीठा कराया। उनके काँपते हाथों से दिया गया आशीर्वाद, उस मुस्कान के साथ, जैसे भगवान स्वयं धरती पर उतर आए हों। उसके बाद उन्होंने हमें—मुझे और वसुंधरा दीदी को—ख़ुशी से गले लगाया। वह आलिंगन किसी जीत का नहीं, बल्कि पूरे परिवार की आत्मा की रक्षा का प्रतीक था।

हमने उन्हें चाय-नाश्ता कराया, और फिर समय गँवाए बिना हम सब निकल पड़े श्री जागेश्वरी माता और श्री चौखट्टा मंदिर हनुमान जी के दर्शन करने, जिनके भरोसे हमने चार साल यह लड़ाई लड़ी थी।

लेकिन जैसे ही हम लौटे, एक और सच्चाई सामने थी। जिन गलियों से हमारी गाड़ियाँ गुज़रीं, लोग हैरत से देख रहे थे—"क्या ये सब साथ हैं?" हाँ, हम साथ थे। और तभी, कई चेहरे घर पर मिलने भी आ पहुँचे। मगर अफ़सोस... उनमें से बहुत-से वही चेहरे थे, जो मन ही मन यह नहीं चाहते थे कि हम जीतें। उनकी मुस्कुराहटों के पीछे छुपी चुभन हम सबने महसूस की।

अगर हम चाहते, तो आसानी से **भानुमती और विढंबिनी पर मानहानि का मुकदमा कर सकते थे।** सबूत भी थे, और हमारा पक्ष भी मज़बूत था। लेकिन हमने ठान लिया कि इस लड़ाई को यहीं ख़त्म करना है।

हमें पता था—अगर यह मामला और खिंचता, तो सबसे ज़्यादा पीसना भानुमती को ही पड़ेगा। और सोचने वाली बात यह थी कि उसकी असली ग़लती क्या थी? ग़लती उसकी उतनी नहीं थी... जितनी उन लोगों की थी जिन्होंने उसे यह रास्ता दिखाया, उसे भड़काया। और इस पूरे खेल का सबसे बड़ा मास्टरमाइंड तो विढंबिनी ही थी।

हमारे दिल ने कहा—"जिसने गलती की है, उसका हिसाब भगवान रखेगा। हमें तो बस अपना रास्ता साफ़ और सीधा रखना है।"

चार वर्षों की वह लंबी अँधियारी रात आखिरकार समाप्त हुई। हमारी आँखों में आँसू थे—पर यह आँसू दुःख के नहीं, विजय और राहत के थे। आज हम

जानते हैं कि सच्चाई की राह भले कठिन हो, लेकिन उसका अंत हमेशा प्रकाश में होता है।

हमारा परिवार अब पहले से कहीं अधिक मजबूत है। हर दिल और हर आत्मा में यह यक़ीन है कि साथ रहकर, एक-दूसरे का हाथ थामकर, हम किसी भी तूफ़ान को पार कर सकते हैं।

दादी सा का आशीर्वाद, हमारे पूर्वजों की मर्यादा, और माता जागेश्वरी, अन्नपूर्णा माता, व चौखट्टा हनुमान जी का संरक्षण — यही हमारी सबसे बड़ी पूँजी है।

जहाँ तक विढंबिनी और उसके साथियों की बात है—आज वे लोग भले अपनी जीत मान रहे हों, लेकिन हम जानते हैं कि **कर्म का तराज़ू कभी खाली नहीं रहता**। जिस तरह उन्होंने झूठ और लालच को चुना, उसी तरह उनका भविष्य उनके ही कर्मों से लिखा जाएगा। समय आएगा, जब सत्य का उजाला उनके लिए आईना बनेगा और तब वे समझेंगे कि झूठ का सहारा लेने वाला कभी सचमुच जीतता नहीं।

हमारे लिए यह कहानी यहीं समाप्त नहीं होती—यह हमारे नए जीवन की शुरुआत है। अब हमारे घर में हर दिन त्योहार है, हर पल परिवार की हँसी और प्रेम से भरा हुआ है। कई सालों की उथल-पुथल, आँसुओं और संघर्ष के बाद,

आज हमारा घर फिर से पहले जैसा हँसी-खुशी से जगमगा रहा है।

हम सब एक ही छत के नीचे हैं—

साथ-साथ, एक-दूसरे की ढाल बने हुए।

यशवर्धन भैया और शौर्यवर्धन भैया सुखी वैवाहिक जीवन जी रहे हैं,

कभी एक स्त्री ने इस परिवार को तोड़ने की कोशिश की थी,

पर हमारी दोनों भाभीसाहब वैसी नहीं हैं—

उन्होंने इस घर को अपनाया और रिश्तों में मिठास भरी।

हमारे घर में अब नई पीढ़ी की पहली किलकारी गूँज चुकी है—

हमारी नई पीढ़ी का पहला कदम, हमारा "सार्थ"।

उसकी मुस्कान ने हमें फिर से याद दिलाया कि

घर केवल दीवारों से नहीं बनता—

घर तब बनता है जब उसमें प्यार, हँसी और नई ज़िंदगी खिल उठे।

सार्थ ने हमारे घर में नई उम्मीद, नया आरंभ,

और आने वाले कल की खूबसूरत नींव रख दी है।

वे झूठे नाम और झूठी कहानियाँ—

अब हमारे लिए सिर्फ़ अतीत की धुंध बने रह गए हैं।

हमारी असली पहचान है—

हमारा परिवार, हमारी एकता, और हमारा अटल सच।

यही हमारी सबसे बड़ी जीत है—कि हम आज भी साथ हैं, सम्मान के साथ जी रहे हैं, और आने वाली पीढ़ियों के लिए यह सबक छोड़ रहे हैं कि सच की लड़ाई कठिन हो सकती है, लेकिन अंततः विजय उसी की होती है।

अंतिम अध्याय:
संघर्ष से मिली सीख

ज़िन्दगी हमें परखने का अजीब तरीका रखती है। जब तूफ़ान आता है, तो कोई वास्तव में आपके साथ खड़ा नहीं होता। उन दिनों में जब हम सबसे ज्यादा संघर्ष कर रहे थे, समर्थन की जगह संदेह थे—फुसफुसाहटें जो हमारी सच्चाई पर सवाल उठाती थीं, यहां तक कि उन लोगों से भी जिन पर हमने सबसे ज्यादा भरोसा किया था। और फिर भी, जब विजय आखिरकार मिली, वही आवाज़ें लौट आईं, बधाई देने लगीं और कहने लगीं, "हमें हमेशा पता था कि आप जीतेंगे।" लेकिन मुझे हर चेहरा याद है, हर संदेह भरी अभिव्यक्ति। आज भी, भले ही कुछ लोग मधुर बोलें, चाहे वे रिश्तेदार हों या दोस्त, उनके साये मेरी यादों में रहते हैं।

एक मनोविज्ञान की छात्रा के रूप में, मैंने यह सीखा है कि जीवन लगातार हमारी राह में चुनौतियां फेंकता है—हमें तोड़ने के लिए नहीं, बल्कि यह देखने के लिए कि क्या हम लड़ने के लिए तैयार हैं। यह केवल सिद्धांत नहीं था; मैंने इसे जिया, सामना किया। और मैंने अपनी आंखों से देखा कि एकता में शक्ति है। साथ मिलकर ही विजय संभव है।

आजकल वह कानून, जो मासूमों की रक्षा के लिए बना था, कभी-कभी लालच के लिए मोड़ लिया जाता है। मैंने देखा कि कुछ महिलाएँ पोस्को मामलों का दुरुपयोग करती हैं, पैसों की चाह में पुरुषों की ज़िंदगी बर्बाद कर देती हैं। यह एक कड़वी सीख थी, जिसने मुझे दिखाया कि हर महिला सच नहीं बोलती, जैसे हर पुरुष झूठा नहीं होता। जीवन में हर चीज़ में धुंधले रंग होते हैं, जहाँ विश्वास नाजुक और न्याय कभी-कभी मोड़ा जा सकता है। सच्चाई, जैसे छुपा हुआ दीपक, धैर्यवान के सामने ही प्रकट होती है।

इस यात्रा, इस संघर्ष से मैंने वह सीख ली, जो किताबें और व्याख्यान कभी नहीं सिखा सकते। जीवन एक युद्धभूमि है, संदेह अवश्य आता है, और विजय सबसे मधुर होती है जब वह साथ मिलकर हासिल की जाती है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण, सच, सावधानीपूर्वक विवेक और सही के लिए लड़ने का साहस हमारी सबसे शक्तिशाली हथियार हैं।

और इसलिए, जब इस लड़ाई का अध्याय बंद होता है, मैं यह ज्ञान लेकर आगे बढ़ती हूँ कि एकता भय पर विजय पाती है, सत्य छल पर, और समानता एक साझा संघर्ष है—एकतरफा नहीं। यही जीवन की सबसे बड़ी सीख है: कठिनाइयों में भी उम्मीद की किरण खोजो, असमर्थता में भी साहस पैदा करो, और हर अंधेरे में सच की रोशनी जलाए रखो। क्योंकि अंततः, वही जीतते हैं जो साथ मिलकर खड़े होते हैं, जो सच्चाई को अपनाते हैं, और जो दिल से न्याय और समानता के लिए लड़ते हैं। जीवन की इस यात्रा में, यही हमारे सबसे कीमती खजाने हैं—सच्चाई, साहस, और एकता।

मैंने यह भी सीखा कि हमारे परिवार ने अपने *पुरवजों* द्वारा दी गई इज़्ज़त को किस तरह सँजोकर रखा है। यह सम्मान केवल शब्दों से नहीं, बल्कि उनके जीवन जीने के तरीके से सुरक्षित रहा—मर्यादा, एकता और हर कठिनाई में अडिग रहकर। यह इज़्ज़त हमें विरासत में यूँ ही नहीं मिली, बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी अर्जित की गई, उसकी रक्षा की गई और उसे आगे बढ़ाया गया। यही हमें याद दिलाता है कि हर पीढ़ी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पूर्वजों द्वारा सौंपे गए इस सम्मान की रक्षा करे।

यह चित्र भानुमति का प्रतीक-रूप है —

उस नाम का, जिसके कारण हमारे परिवार का जीवन एक कठिन दौर से गुज़रा था|

भानुमति,

तुमने जो भी किया, उसके बारे में फैसला अब जीवन और कर्म ही देंगे। हम तुम्हें कोई बद्दुआ नहीं देते। हम बस इतना ही चाहते हैं कि तुम एक अच्छी और सच्चाई पर चलने वाली इंसान बनो। शायद किसी दिन तुम्हें एहसास हो कि तुमने जो कदम उठाए वे सही थे या गलत। हमारे लिए यह तस्वीर नफ़रत का प्रतीक नहीं, बल्कि उस सफ़र की याद है जिसने हमें सत्य, धैर्य और विश्वास का अर्थ सिखाया।

हम वही बुआ है, जिसके साथ हर छोटी-बड़ी बात साझा की जाती थी। पर जो कुछ भी हुआ... उसके बारे में आपने हमें पहले नहीं बताया। हमें नहीं पता आपकी क्या मजबूरी रही, क्या परिस्थितियाँ थीं, या क्यों तुम्हें यह कदम उठाना पड़ा। कैसे तुमने इसे परिवार के अहित में माना —यह भी हम नहीं जान पाए।

फिर भी, हम तुम्हारा कभी बुरा नहीं चाहेंगे।

तुमने जो भी किया, उसका उत्तर कर्म और भगवान ही देंगे।

धन्यवाद